चतुर्थ सुमन—

जैन-शासन का मर्म

सुमेरुचन्द्र दिवाकर
न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी० ए०, एल एल० बी०

शांति-प्रकाशन, सिवनी (मध्यप्रदेश)

चारित्र-चक्रवर्ती :— आचार्य शांतिसागर महाराज की जीवनी

लेखक— धर्मदिवाकर प० सुमेरुचन्द्र दिवाकर बी ए. एल एल बी शास्त्री

कुछ अभिमत — महामुनि श्री वर्धमानसागरजी — यह अमर रचना है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी — ये ग्रंथ शिरोधार्य होते हैं। इनकी समालोचना क्या ? ब्र० पंडिता चन्द्राबाई — ग्रंथ आरंभ करने पर समाप्त किये बिना रहा नहीं जाता। यह आत्मकथा होने के साथ उच्चकोटि का धर्म शास्त्र भी है। श्री मानय, मंत्री वि० प्र० — आचार्य जी का जीवन जन समुदाय के लिये प्रेरणादायक, मार्ग दर्शक तथा कल्याणप्रद है। जर्मन पत्रकार ल्यूथर विंडेल — मैं हिन्दी सीख रहा हूं ताकि इस ग्रंथ का जर्मन भाषा में अनुवाद करूं।

राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी राज्यपाल मद्रास, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, अध्यक्ष भारतीय संसद श्री मावलंकर, केन्द्रीय मंत्री श्री जैन, मुख्य मंत्री श्री गंगवाल आदि प्रमुख नेताओं ने सद्भावनायें व्यक्त की है। श्रवणबेलगोला महाभिषेक के समय इस ग्रंथ का चतुर्विध संघ ने समादर किया था। पृष्ठ संख्या ८००, टाइम्स प्रेस में मुद्रित ३० कलापूर्ण चित्रों से सुसज्जित ग्रंथ का लागत मूल्य दस रुपया

धर्मात्माओं का कर्तव्य है कि इस लोकोत्तर चरित्र का प्रचार करें।

पता.— शांति प्रकाशन, दिवाकर सदन, सिवनी (म प्र)

प्रकाशकीय

पं० सुमेरुचन्द जी दिवाकर द्वारा चिंतनात्मक एवं अध्ययनपूर्ण रीति से लिखी हुई यह पुस्तक जीवन पथ को प्रशस्त करने के इच्छुक पाठकों के समक्ष रखते हुए हमें विशेष हर्ष का अनुभव होता है। दिवाकर जी की यही इच्छा रही है कि उनके द्वारा लिखी गई पुस्तक "जैनशासन" का संक्षिप्त अथवा अत्यावश्यक रूप बिना अधिक आर्थिक भार के सामान्य पाठक को उपलब्ध हो। इसी हेतु दिवाकर जी ने "जैनशासन" के कतिपय अध्यायों को इस पुस्तक के लिए स्वीकार कर अतिरिक्त सामग्री प्रदान की है।

शीघ्र ही दिवाकर जी की अन्य रचनाएं जिनमें "निर्वाण भूमि" उल्लेखनीय है, प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। जिन पूज्य शांतिसागर जी महाराज के शुभ नाम पर हमने अपने प्रकाशन को नामाङ्कित किया था, यद्यपि वह अब हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनकी पुण्यदायी मधुर स्मृति और उनका शुभाशीर्वाद मानव-मनमें आत्मोन्नति का भाव सदा जागृत रखे, इसी हेतु हम ऐसी पुस्तकें पाठकों को प्रदान करने में प्रयत्नशील हैं।

दिवाकर सदन
२०-२-१६६६

अभिनन्दनकुमार

विषय-क्रम

जैन शासन का मर्म

शान्ति की खोज

हम विशाल विश्व पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब हमें सभी प्राणी किसी न किसी कार्य में संलग्न दिखाई देते हैं। चाहे वे कार्य शारीरिक हों मानसिक हों अथवा आध्यात्मिक। उनका अन्तिम ध्येय आत्मा के लिए आनन्द अथवा शान्ति की खोज करना है। लेकिन ऐसे पुरुषों का दर्शन प्राय दुर्लभ है, जो प्रामाणिकता पूर्वक यह कह सकें कि हमने उस आनन्द की अक्षय निधि को प्राप्त कर लिया है।' हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि विश्व में पाये जाने वाले पदार्थ कुछ भी आनन्द प्रदान नहीं करते, कारण, अनुकूल शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक पदार्थों को पाकर प्राणी संतुष्ट होते हुए पाये जाते हैं और इसीलिए लोग कह भी बैठते हैं—भाई, आज बड़ा आनन्द आया ! किंतु, यह आनन्द स्थायी नहीं रहता। मनोमुग्धकारी इन्द्र धनुष अपनी छटा से प्रेक्षकों के चित्त को आनन्द प्रदान करता है किन्तु अल्पकाल के अनन्तर उस सुर चाप का विलीन होना उस आनन्द की धारा को शुष्क बना देता है। इसी प्रकार विश्व की अनन्त पदार्थ मालिका जीवों को कुछ सन्ताप तो देती है, किन्तु उसके भीतर स्थायित्व का अभाव पाया जाता है।

उस भौतिक पदार्थ से प्राप्त होने वाले आनन्द में एक बड़ा संकट यह है कि जैसे जैसे विशिष्ट आनन्द दायिनी सामग्री प्राप्त होती है, वैसे वैसे इस जीव की तृष्णा की ज्वाला अत्यधिक प्रदीप्त होती जाती है और वह यहाँ तक बढ़ जाती है कि सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ भी इसके मनोदरता को पूर्णतया परितृप्त नहीं कर सकते।

मानने वाले व्यक्ति की कितनी करुण अवस्था होती है, जब इस आत्मा को वर्तमान शरीर तथा अपनी कही जाने वाली सुन्दर, मनोहर, मनोरम प्यारी वस्तुओं से सहसा नाता तोड़कर अन्य लोक की महायात्रा करने को बाध्य होना पड़ता है।

कहते हैं, सम्राट् सिकन्दर जो विश्व विजय के रंग में मस्त हो अपूर्व साम्राज्य सुख के सुमधुर स्वप्न में संलग्न था, मरते समय केवल इस बात से अवर्णनीय आन्तरिक व्यथा अनुभव करता रहा था कि मैं इस विशाल राज वैभव का एक कण भी अपने साथ नहीं ले जा सकता। इसीलिए जब सम्राट् का शव बाहर निकाला गया तब उसके साथ राज्य की महान् वैभवपूर्ण सामग्री भी साथ में रखी गयी थी। उस समय सम्राट् के दोनों खाली हाथ बाहर रख गये थे जिसका यह तात्पर्य था कि विश्व विजय की कामना करने वाले महत्वाकांक्षी तथा पुरुषार्थी इस प्रतापी पुरुष ने इतना बहुमूल्य संग्रह किया जो प्रेक्षकों के चित्त में विस्मय व्यामोह उत्पन्न कर देता है। किन्तु फिर भी यह शासक कुछ भी सामग्री साथ नहीं ले जा रहा है। ऐसे सजीव तथा उद्बोधक उदाहरण से यह प्रकाश प्राप्त होता है कि बाह्य पदार्थों में सुख की धारणा मूल में ही भ्रमपूर्ण है। प्यासा हरिण ग्रीष्म में पानी प्राप्त करने की लालसा से मरु भूमि में कितनी दौड़ नहीं लगाता किन्तु मायाविनी मरीचिका के भुलावे में फँसकर वृद्धिंगत पिपासा से पीड़ित होता है और प्यारे पानी के पास पहुँचने का सौभाग्य ही नहीं पाता, उसकी मोहनी-मूरत ही नयन गोचर होती है पुरुषार्थ करके ज्यों-ज्यों आगे दौड़ता है, वह नयनाभिराम वस्तु दूर होती जाती है। इसी प्रकार भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़ने वाला सुखाभिलाषी प्राणी वास्तविक आनन्दामृत के पान से वंचित रहता है और अन्त में इस लोक से विदा होते समय संग्रहीत ममता की सामग्री के वियोग-व्यथा से सन्तप्त होता है। ऐसे अवसर पर सत्पुरुषों की [illegible]र्मिक शिक्षा ही स्मरण आती है—

"रे जिय, प्रभु सुमिरन में मन लगा लगा।
लाख करोर की घरी रहेगी, संग न जइहै एक तगा ॥"

इस प्रसंग में विद्या प्रेमी नरेश भोज का जीवन अनुभव भी विशेष उद्बोधक है। कहते हैं, जब महाराज अपनी सुन्दर रमणियों, स्नेही मित्रों, प्रेमी बन्धुओं, हार्दिक अनुरागी सेवकों, हाथी घोड़े आदि की अपूर्व सर्वांगीण आनन्दायिनी सामग्री को देख कर अपने विशिष्ट सौभाग्य पर उचित अभिमान करते हुए अपने महाकवि से हृदय की बातें कर रहे थे तब महाराज भोज के भ्रम को भगाने वाले तथा सत्य की तह तक पहुँचने वाले कवि के इन शब्दों ने उनकी आंख खोल दी—'ठीक है महाराज, पुण्य उदय से आपके पास सब कुछ है, लेकिन यह तबतक ही है जबतक आपक नेत्र खुले हुए हैं। नेत्रों के बन्द होने पर यह कहाँ रहेगा।" महाकवि भूधरदास जी की निम्न पंक्तियां अन्तरतल तक अपना प्रकाश पहुंचा वास्तविक मार्ग-दर्शन कराती हैं—

"तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही।
दास खवास अवास अटा धन जोर करोरन कोश भरे ही ॥
ऐसे भये तो कहा भयौ हे नर ! छोर चले जब अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम धरे रहे ठाम धरे ही ॥"

—जैनशतक ३५।

ऐसी ही गंभीर चिन्तना में समुज्ज्वल दार्शनिक विचारों का उदय होता है। पश्चिम के अफलातूं प्लेटो महाशय कहते हैं—Philosophy begins in wonder दर्शन शास्त्र का जन्म आश्चर्य से होता है। इसका भाव यह है कि जब विचित्र घटना-चक्र से जीवन पर विशेष प्रकार का आघात होता है, तब तात्विकता के विचार अपने आप उत्पन्न होने लगते हैं। गौतम की आत्मा में यदि रोगी, वृद्ध तथा मृत व्यक्तियों के प्रत्यक्ष दर्शन से आश्चर्य की अनुभूति न हुई होती तो

वह अपनी प्रिय यशोधरा और राज्य से पूर्णतया निमग्न हो बुद्धत्व के लिए साधना पथ पर पैर नहीं रखते।

वास्तविक शान्ति की प्यास जिस आत्मा में उत्पन्न होती है, वह सोचता है—"मैं कौन हूँ मैं कहाँ से आया मेरा क्या स्वभाव है मेरे जीवन का ध्येय क्या है, उसकी पूर्ति का उपाय क्या है ?" पश्चिमी पण्डित हेकल (Hackel) महाशय कहते हैं—'Whence do we come ? What are we ? Whither do we go ?' ऐसे प्रश्नों का समाधान करने के लिए जिस सत्पुरुष ने सदाशयतापूर्वक प्रयत्न किया वही महापुरुषों में गिना जाने लगा और उस महापुरुष ने जिस मार्ग को पकड़ा वही भोले तथा भूले भाइयों के लिए कल्याण का मार्ग समझा जाने लगा— महाजनो येन गतः स पन्थाः।'

ज्ञान के उदार जगत् से निकट सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति सभी मार्गों को आनन्द का पथ जान उसकी आराधना करने का सुझाव सबके समक्ष उपस्थित करता है। वह सोचता है कि शान्त तथा लोक-हित की दृष्टि वाले व्यक्तियों ने जो भी कहा वह जीवन में आचरणयोग्य है। तत्त्व के अन्तस्तल को स्पर्श न करने वाले ऐसे व्यक्ति 'रामाय स्वस्ति' के साथ ही साथ 'रावणाय स्वस्ति' कहने में संकोच नहीं करते। ऐसे भाइयों को तर्क शास्त्र के द्वारा इतना तो सोचना चाहिए कि सद्भावना आदि के होते हुए भी सम्यक्ज्ञान की ज्योति के बिना सन्मार्ग का दर्शन तथा प्रदर्शन कैसे सम्भव होगा। इसलिए तत्त्वज्ञों को रावण की अभिवन्दना छोड़कर राम का पदानुसरण करना चाहिए। जीवन में शाश्वत तथा यथार्थ शान्ति को लाने के लिए यह आवश्यक है कि अन्धप्रवृत्ति का परित्याग कर विवेक की कसौटी पर तत्त्व को कसकर अपने जीवन को उस ओर झुकाया जाय।

धर्म और उसकी आवश्यकता

आत्म-भावना द्वारा कल्याण मंदिर में दुःखी प्राणियों को प्रविष्ट कराने की प्रतिज्ञापूर्वक प्रचार करने वाले व्यक्तियों के समुदाय को देखकर ऐसा मालूम होता है कि यह और एक ऐसे बाजार में आ पहुँचा है जहाँ अनेक भिन्न विक्रेता अपनी प्रत्येक वस्तु को अमूल्य कल्याणकारी बता उसे बेचने का प्रयत्न कर रहे हैं। जिस प्रकार अपने माल की ममता तथा लाभ के लोभवश व्यापारी सत्य सम्भाषण की पूर्णतया उपेक्षा कर वाक् चातुर्य द्वारा हत भाग्य ग्राहक को अपनी ओर आकर्षित कर उसकी गाँठ के द्रव्य को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार प्रतीत होता है कि अपनी मुक्ति अथवा स्वर्गप्राप्ति आदि का लालचवश भोले भाले प्राणियों के गले में साधनामृत के नाम पर न मालूम क्या क्या पिलाया जाता है और उनकी श्रद्धा निधि वसूल की जाती है।

इस बाजार में धोखा खाया हुआ व्यक्ति सभी विक्रेताओं को अप्रामाणिक और स्वार्थी कहता हुआ अपना रोष व्यक्त करता है। कुछ व्यक्तियों की अप्रामाणिकता का पाप सत्य तथा प्रामाणिक व्यवहार करने वाले पुरुषों पर लादना यद्यपि न्याय की मर्यादा के बाहर की बात है, तथापि ठगाया हुआ व्यक्ति रोषवश यथार्थ बात का ध्यान करने में असमर्थ हो अतिरेकपूर्ण कदम बढ़ाने से नहीं रुकता। ऐसे ही रोष तथा आन्तरिक व्यथा को निम्नलिखित पंक्तियां व्यक्त करती हैं—

'धर्म ने मनुष्य को कितना नीचे गिराया, कितना कुकर्मी बनाया, इसको हम स्वयं सोचकर देखें। ईश्वर को मानना सबसे पहले बुद्धि को सलाम करना है। जैसे शराबी पहला प्याला पान के समय बुद्धि की विदाई को सलाम करते हैं, वैसे ही खुदा के मानने वाले भी बुद्धि से विदा हो लेते हैं। धर्म ही हत्या की जड़ है। कितने पशु धर्म के नाम

पर रक्त के प्यासे ईश्वर के लिये संसार में कोई नहीं है, उसका पता लगाकर पाठक स्वयं देख लें। समय आयेगा कि धर्म की बहुदर्गी से संसार छुटकारा पाकर सुखी होगा और आपसकी कलह मिट जायगी। एक अत्याचारी, मूर्ख शासक गुन्मुख्तार एवं दर्भी ईश्वर की कल्पना करना मानो स्वतंत्रता और आत्म धर्म को तिरस्कार करके दूर फेंक देना है। यदि आप चाहें कि ईश्वर आपका भला करे तो उसको नाम एकदम भुला दें फिर संसार मंगलमय हो जायगा।

'वेद, पुराण, कुरान, इंजील आदि सभी धर्म पुस्तकों के देखने से प्रकट है कि सारी गाथाएँ वैसी ही कहानियां हैं जैसी कुबड़ बूढ़ी दादी-नानी अपने बच्चों को सुनाया करती हैं। फिर जेहाद, धर्मदान, लाखों ईश्वर या खुदा के नाम पर अपने देश को, व्यक्ति और धन-सम्पत्ति को नष्ट कर डालना, एक ऐसी मूर्खता है जिसकी उपमा नहीं मिल सकती। यदि हम मनुष्य जाति का कल्याण चाहते हैं तो हमें सबसे पहले धर्म और ईश्वर को गद्दी से उतारना चाहिए[1]।"

इस विषय में अपना रोष व्यक्त करने वालों में रूस ने बहुत लम्बा कदम उठाया है। वहाँ तो बड़े बड़े सम्मेलन करके वोटों (मतों) द्वारा ईश्वर का बहिष्कार तक किया गया, बेचारे धर्म की बात तो जाने दीजिए। रूसी लेखक दास्तायवस्की एक कदम आगे बढ़ाकर लिखता है—"ईश्वर तो मर चुका है, अब उसका स्थान खाली है।' शायद उस जगह के लिए रूस "अणुबम' परिवार में से किसी को चुन कर आराधना करे, ऐसा लग दिखता है।

पूर्वोक्त कथन में अतिरेक होने हुए भी निष्पक्ष दृष्टि से समीक्षक को उसमें सत्यता का अंश स्वीकार करना ही होगा। लेकिन श्री विवेकानन्द अपने राज-योग में लिखते हैं जितना ईश्वर के नाम पर खून खच्चर हुआ उतना अन्य किसी वस्तु के लिए नहीं।'

---

१ प्रपञ्च परिचय पृ० २६५-७०।

जिसने रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट नामक ईसाई दलों के मानने वालों का रक्त रंजित इतिहास पढ़ा है अथवा दक्षिण भारत में मध्य युग में शैव और लिंगायतों ने हजारों जैनियों का विनाशकर रक्त की धारायें बहायी तथा जिस बात की प्रामाणिकता दिखाने वाले चित्र मदुरा के मीनाक्षी नामक हिन्दू मन्दिर में दक्ष कृत्य के साक्षी स्वरूप विद्यमान हैं, उस धर्म के नाम पर हुए क्रूर कृत्यों पर दृष्टि डाला है, वह अपनी जीवन की पवित्र श्रद्धांजलि उन मार्गों के लिए कैसे समर्पण करेगा?

धर्मात्माओं की विचार हीनता स्वार्थ-परता अथवा दुर्बुद्धि के कारण ही धर्म की आज के वैज्ञानिक जगत् में अवर्णनीय अवहेलना हुई और उच्च विद्वानों ने अपने आपको धर्म से असम्बद्ध बनाने में या समझने में कृतार्थता समझी। यदि धर्मात्माओं ने असभ्यतापूर्ण तथा उच्छृङ्खलतापूर्ण आचरण पर सहार न किया होता तो धर्म के विरुद्ध ये शब्द न सुनायी पड़ते।

साम्यवाद सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक तथा रूस का भाग्य विधाता लेनिन धर्म की ओट में हुए अत्याचारों से व्यथित हो कहता है कि विश्व कल्याण के लिए धर्म की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसके प्रभाव में आये हुए व्यक्ति धर्म को उस अफीम की गोली के समान मानते हैं, जिसे खाकर कोई अफीमची क्षण भर के लिए अपने में स्फूर्ति और शक्ति का अनुभव करता है। इसी प्रकार उनकी दृष्टि से धर्म भी कृत्रिम आनन्द अथवा विशिष्ट शान्ति प्रदान करता है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि इन असन्तुष्ट व्यक्तियों को वैज्ञानिक धर्म का परिचय नहीं मिला अन्यथा ये सत्य ज्योति रूप धर्म का प्राण-पण

[१] Religion to his master Marx had been the Opium of the people and to Lenin it was a kind of spiritual cocaine in which the slaves of capital drown the human perception and their demands for any life worthy of a human being

—Fulop Miller Mind and Face of Bolshevism p 78

आराधना किये बिना न रहते। जिन्होंने इस महान साधना के साधन भूत मनुष्य-जन्म की महत्ता को विस्मृत कर अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति का ही नर जन्म का ध्येय समझा है, वे गहरे भ्रम में फँसे हुए हैं और उन्हें इस विश्व की वास्तविक स्थिति का बोध नहीं प्रतीत होता।

सम्राट् अमोघवर्ष अपने अनुभव के आधार पर मनुष्य जन्म को ही असाधारण महत्व की वस्तु बताते हैं। अपनी अनुपम कृति प्रश्नोत्तर रत्न मालिका में उन्होंने कितना उद्बोधक बात लिखी है—

'किं दुलभं ? नृजन्म, प्राप्येदं भवति किं च कर्तव्यम् ?
आत्महितमहितसंगत्यागो रागश्च गुरुवचने ॥'

इस मानव जीवनकी महत्तापर प्रायः सभी सन्तोंने अमर गाथाएँ रची हैं। इस जीवन के द्वारा ही आत्मा सर्वोत्कृष्ट विकास को प्राप्त कर सकती है। कबीरदास ने कितना सुन्दर लिखा है—

"मनुष जनम दुरलभ अहै होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर गया, फिर न लागै डार।'

वैभव विद्या, प्रभाव आदि के अभिमान में मस्त हो यह प्राणी अपने को अजर-अमर मान अपने जीवन की बीतती हुई स्वर्ण घड़ियों की महत्ता पर बहुत कम ध्यान देता है। वह सोचता है कि हमारे जीवन की आनन्द गंगा अविच्छिन्न रूप से बहती ही रहेगी, किन्तु वह इस सत्य का दर्शन करने से अपनी आँखों को मींच लेता है कि परिवर्तन के प्रचंड प्रहार से बचना किसी के भी वश की बात नहीं है। महाभारत में एक सुन्दर कथा है—पाँचों पाण्डव तृषित हो एक सरोवर पर पानी पीने के लिए पहुँचे। उस जलाशय के समीप निवास करनेवाली दिव्यात्मा ने अपनी शंकाओंका उत्तर देने के पश्चात् ही जल पीने की अनुज्ञा दी। प्रश्न यह था कि जगत् में सबसे बड़ी आश्चर्यकारी बात कौन सी है? भीम, अर्जुन आदि भाइयों के उत्तरों से जब सन्तोष न हुआ, तब अंत में धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥ [1]

इस सम्बन्ध में गुणभद्राचार्य की उक्ति अन्तस्तत्त्व को महान् आलोक प्रदान करती है। वे कहते हैं—अरे, यह आत्मा निद्रावस्था द्वारा अपने में मृत्यु की आशंका को उत्पन्न करता है और जागने पर जीवन के आनंद की झलक दिखाता है। जब यह जीवन-मरणका खेल आत्मामें प्रतिदिनकी लीला है तब भला यह आत्मा इस शरीरमें कितने कालतक ठहरेगा? मोह की नींद में मग्न रहने वालों को गुरु नानक जगाते हुए कहते हैं—

जागो रे जिन जागना अब जागनि की बार।
फेरि कि जागो 'नानका, जब सोवउ पांव पसार॥

आज के भौतिकवाद के भँवर में फँसे हुए व्यक्तियों में से कभी कभी कुछ विशिष्ट आत्माएँ मानव जीवन की अमूल्यता का अनुभव करती हुई जीवन को सफल तथा मंगलमय बनाने के लिए छटपटाती रहती हैं। ऐसे ही विचारों से प्रभावित एक भारतीय भ्राता, जिन्होंने आइ० सी० एस० की परीक्षा पास की थी, एक दिन कहने लगे—मेरी आत्मा में बड़ा द्वन्द्व होता है जब मैं राजकाज कागजातों आदि पर प्रभात से सन्ध्या तक हस्ताक्षर करते करते अपने अनुपम मनुष्य जीवन के स्वर्णमय दिवस के अवसान पर विचार करता हूँ। क्या हमारा जीवन हस्ताक्षर करने के जड़ यंत्र के तुल्य है? क्या हमें अपनी आत्मा के लिए कुछ भी नहीं करना है? मानों हम शरीर ही हों और हमारे आत्मा ही न हो। कभी कभी आत्मा बेचैन हो सब कामों को छोड़ कर वनवासी बनने को लालायित हो उठता है।'

---

१ प्रतिदिन प्राणी मरकर यम मंदिर में पहुंचते रहते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि शेष व्यक्ति जीवनकी कामना करते हैं (मानो यमराज उनपर दया करदेगा!)।

मैंने कहा, इस तरह घबराने से काम नहीं चलेगा। यदि सत्य, संयम अहिंसा आदि के साथ जीवन को अलङ्कृत किया जाय, तो अपने लौकिक उत्तरदायित्वपूर्ण काम करने में कोई बाधा तथा डर की बात नहीं है। आप वैज्ञानिक धर्म के उज्ज्वल प्रकाश में अपने को तथा अपने कर्त्तव्यों को देखने का प्रयत्न कीजिए। इससे शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत होगा तथा मनुष्य जीवन की सार्थकता होगी।

गौतम बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को धर्म के विषय में कहा है—

'देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान-कल्याणं'[1] —भिक्षुओ, तुम आदिकल्याण, मध्यकल्याण तथा अन्त में कल्याणवाले धर्म का उपदेश दो। आचार्य गुणभद्र आत्मानुशासन में लिखते हैं कि— धर्म सुख का कारण है। कारण अपने कार्य का विनाशक नहीं होता। अतएव आनन्द के विनाश के भय से तुम्हें धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए।'

इससे यह बात प्रकट होती है कि विश्व में रक्तपात, मारकाट, कलह आदि उत्पातों का उत्तरदायित्व धर्म पर नहीं है। धर्म को मुद्रा धारण करने वाले धर्माभास का ही यह कलङ्कमय कारनामा है। अधर्म या पाप से उतना अहित अथवा विनाश नहीं होता, जितना धर्म का दम्भ दिखाने वाले जीवन अथवा सिद्धान्तों से होता है। व्याघ्र की अपेक्षा गोमुख व्याघ्र के द्वारा जीवन अधिक सङ्कटापन्न बनता है।

लार्ड मनेयरी ने ठीक कहा है कि 'विश्व में शान्ति तथा मानवों के प्रति सद्भावना का कारण धर्म है, जो घृणा तथा अत्याचार को उत्तेजित करता है, उसे शब्दशः धर्म भले ही कहा जाय किंतु भाव की दृष्टि से यह पूर्णतया मिथ्या है।'[2] डा० भगवानदास का कथन है[3]—"सनातनों और

---

१ महावग्ग विनय पिटक।

२ Relig on was intended to living peace on earth and good will towards men whatever tends to hatred and persecution however correct in the letter mus be utterly wrong in the spirit

३ विश्ववाणी अक्टू०

कूटनीति की चाँदी बनकर साइंस ने मजहब से कहीं ज्यादा मारकाट की है, पर यह सब झगड़ा न सच्ची साइंस का नतीजा है और न सच्चे धर्म या मजहब का। यह नतीजा है हमारे अन्दर के शैतान हमारी खुदी, हमारे स्वार्थ और हमारे अहंकार का। हम अपनी ढोंग, खुदी और चंदरोजा गरजों के लिए साइंस और मजहब दोनों का गलत उपयोग करते हैं और दोनों को बदनाम करते हैं। मजहब के नाम पर झगड़े दुनिया में हुए हैं और होंगे, पर इन झगड़ों की वजह से मजहब को दुनिया से मिटाने की कोशिश वैसी ही है जैसे रोग को दूर करने के लिए शरीर को मार डालने की कोशिश। जबतक दुनिया में दुःख और मौत है तबतक लोगों को धर्म की जरूरत रहेगी।"

न्यायमूर्ति नियोगी महाशय ने धर्मतत्त्व के समर्थन में एक बहुत सुन्दर बात कही थी—"यदि इस जगत् में वास्तविक धर्म का वास न रहे तो शान्ति के साधन रूप पुलिस आदि के होते हुए भी वास्तविक शान्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। जैसे पुलिस तथा सैनिक बल के कारण साम्राज्य का संरक्षण घातक शक्तियों से किया जाता है उसी प्रकार धर्मानुशासित अन्तःकरण के द्वारा आत्मा उच्छृंखल तथा पापपूर्ण प्रवृत्तियों से बचकर जीवन तथा समाज निर्माण के कार्य में उद्यत होता है।"

उस धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए तार्किकचूडामणि आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—"जो संसार के दुःखों से बचाकर इस जीव को उत्तम सुख प्राप्त करावे, वह धर्म है। वैदिक दार्शनिक कहते हैं—'जिससे सर्वांगीण उदय—समृद्धि तथा मुक्ति की प्राप्ति हो, वह धर्म है।' श्री विवेकानन्द मनुष्य में विद्यमान देवत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं[१]।" राधाकृष्णन् 'सत्य तथा न्याय की उपलब्धि को एवं

१ Religion is the manifestation of divinity in man

हिंसा के परित्याग को धर्म मानते हैं[1]। इस प्रकार जीवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को प्रतिष्ठित करने वाले धर्म के विषय में और भी विद्वानों के अनुभव पढ़ने में आते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म पर व्यापक दृष्टि डालते हुए लिखा है—

'वत्थु सहावो धम्मो'—आत्मा की स्वाभाविक अवस्था धर्म है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्वभाव प्रकृति (Nature) का नाम धर्म है। विभाव, विकृति का नाम अधर्म है। इस कसौटी पर लोगों द्वारा आक्षेप किये गये हिंसा, दम्भ, विषय-तृष्णा आदि धर्म नामधारी पदार्थ को कसते हैं तो वे पूर्णतया खोटे सिद्ध होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, आदि जघन्य वृत्तियों के विकास से आत्मा की स्वाभाविक निर्मलता और पवित्रता का विनाश होता है। इनके द्वारा आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है, जो आत्मा के आनन्दोपवन को स्वाहा कर देती है।

अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की अभिवृद्धि एवं अभिव्यक्ति से आत्मा अपनी स्वाभाविकता के समीप पहुँचते हुए स्वयं धर्ममय बन जाता है। हिंसा आदि को जीवनोपयोगी अस्त्र मानकर यह पूछा जा सकता है कि अहिंसा, अपरिग्रह आदि को अथवा उनके साधनों को धर्म संज्ञा प्रदान करने का क्या कारण है ?

राग द्वेष-मोह आदि को यदि धर्म माना जाय तो इनका आत्मा में सदा सद्भाव पाया जाना चाहिये। किन्तु, अनुभव उन क्रोधादिकों के अस्थायित्व अतएव विकृतपने को ही बताता है। अग्नि के निमित्त से जल में होने वाली उष्णता जल का स्वाभाविक परिणमन नहीं कहा जा सकता, उसे नैमित्तिक विकार कहेंगे। अग्नि का सम्पर्क दूर होने पर वही पानी अपनी स्वाभाविक शीतलता को प्राप्त हो जाता है।

[1] Religion is the pursuit of truth and justice and abdication of violence

कूटनीति की चाँदी बनकर साइंस न मजहब से कहीं ज्यादा मारकाट की है, पर यह सब झगड़ा न सच्ची साइंस का नतीजा है और न सच्चे धर्म या मजहब का। यह नतीजा है हमारे अन्दर के शैतान हमारी खुदी हमारे स्वार्थ और हमारे अहंकार का। हम अपनी खुदगर्जी और चंद्राजा मतों के लिए साइंस और मजहब दोनों का गलत उपयोग करते हैं और दोनों को बदनाम करते हैं। मजहब के नाम पर झगड़े दुनिया में हुए हैं और होंगे, पर इन झगड़ों की वजह से मजहब को दुनिया से मिटाने की कोशिश ऐसी है जैसे रोग को दूर करने के लिए शरीर को मार डालने की कोशिश। जबतक दुनिया में दुःख और मौत है तबतक लोगों को धर्म की जरूरत रहेगी।'

न्यायमूर्ति नियोगी महाशय ने धर्मतत्व के समर्थन में एक बहुत सुन्दर बात कही था—'यदि इस जगत् में वास्तविक धर्म का वास न रहे तो शांति के साधन रूप पुलिस आदि के होते हुए भी वास्तविक शांति की स्थापना नहीं की जा सकती। जैसे पुलिस तथा सैनिक बल के कारण साम्राज्य का संरक्षण घातक शक्तियों से किया जाता है उसी प्रकार धर्मानुशासित अन्तःकरण के द्वारा आत्मा उच्छृंखल तथा पाप पूर्ण प्रवृत्तियों से बचकर जीवन तथा समाज निर्माण के कार्य में उद्यत होता है।

उस धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए तार्किकचूडामणि आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—"जो संसार के दुःखों से बचाकर इस जीव को उत्तम सुख प्राप्त करावे, वह धर्म है।" वैदिक दार्शनिक कहते हैं—'जिससे सर्वांगीण उदय—समृद्धि तथा मुक्ति की प्राप्ति हो, वह धर्म है।' श्री विवेकानन्द मनुष्य में विद्यमान देवत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं[1]।' राधाकृष्णन् 'सत्य तथा न्याय की उपलब्धि को धर्म

१ Religion is the manifestation of divinity in man

हिंसा के परित्याग को धर्म मानते हैं[१]। इस प्रकार जीवन में 'सत्य शिव सुन्दरम्' को प्रतिष्ठित करने वाले धर्म के विषय में और भी विद्वानों के अनुभव पढ़ने में आते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म पर व्यापक दृष्टि डालते हुए लिखा है—

'वत्थु सहावो धम्मो'—आत्मा की स्वाभाविक अवस्था धर्म है इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्वभाव प्रकृति (Nature) का नाम धर्म है। विभाव, विकृति का नाम अधर्म है। इस कसौटी पर लोगों द्वारा आक्षेप किये गये हिंसा, दम्भ, विषय तृष्णा आदि धर्म नामधारी पदार्थ को कसते हैं तो वे पूर्णतया खोटे सिद्ध होते हैं। क्रोध, मान, माया लोभ, राग द्वेष, मोह, आदि जघन्य वृत्तियों के विकास से आत्मा की स्वाभाविक निर्मलता और पवित्रता का विनाश होता है। इनके द्वारा आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है, जो आत्मा के आनन्दोपवन को स्वाहा कर देती है।

अहिंसा सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की अभिवृद्धि एवं अभिव्यक्ति से आत्मा अपनी स्वाभाविकता के समीप पहुंचते हुए स्वयं धर्ममय बन जाता है। हिंसा आदि को जीवनोपयोगी अस्त्र मानकर यह पूछा जा सकता है कि अहिंसा, अपरिग्रह आदि को अथवा उनके साधनों को धर्म संज्ञा प्रदान करने का क्या कारण है?

राग द्वेष मोह आदि को यदि धर्म माना जाय तो इनका आत्मा में सदा सद्भाव पाया जाना चाहिये। किन्तु, अनुभव उन क्रोधादिकों के अस्थायित्व अतएव विकृतपने को ही बताता है। अग्नि के निमित्त से जल में होने वाली उष्णता जल का स्वाभाविक परिणमन नहीं कहा जा सकता, उसे नैमित्तिक विकार कहेंगे। अग्नि का सम्पर्क दूर होने पर वही पानी अपनी स्वाभाविक शीतलता को प्राप्त हो जाता है।

---

१ Religion is the pursuit of truth and justice and abdication of violence

शीतलता के लिए जैसे अन्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती और वह सदा पायी जा सकती है, उसी प्रकार अहिंसा, मृदुता, सरलता आदि गुणयुक्त अवस्थाएँ आत्मा में स्थायी रूप से पाई जा सकती हैं। इस स्वाभाविक अवस्था के लिए बाह्य अनात्म पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती। क्रोधादि विभावों अथवा विकारों की बात दूसरी है। इन विकारों को जाग्रत तथा उत्तेजित करने के लिए बाह्य सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। बाह्य साधनों के अभाव में क्रोधादि विकारों का विलय हो जाता है। कोई व्यक्ति चाहने पर भी निरंतर क्रोधी नहीं रह सकता। कुछ काल के पश्चात् शान्त भाव का आविर्भाव हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा के स्वभाव में ऐसी बात नहीं है। यह आत्मा सदा क्षमा, ब्रह्मचर्य, संयम आदि गुणों से भूषित रह सकता है। इसलिए क्रोध मान-माया लोभ राग द्वेष मोह आदि को अथवा उनके कारणभूत साधनों को अधर्म कहना होगा। आत्मा के क्षमा, अपरिग्रह, आर्जव आदि भावों तथा उनके साधनों को धर्म मानना होगा, क्योंकि वे आत्मा के निजी भाव हैं।

सात्त्विक आहार विहार सत्पुरुषों की संगति, वीतरोपासना आदि कार्यों से आत्मीय पवित्रता का प्रादुर्भाव होता है इसलिए उन्हें भी उपचार से धर्म कहा जाता है। यहाँ धर्म के साधनों में साध्य रूप धर्म का उपचार किया जाता है। उस आत्म धर्म की अथवा उस आत्म निर्मलता की उपलब्धि के लिए आत्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द के विषय में अखण्ड आत्मश्रद्धा, अनात्मपदार्थों से आत्मज्योति का विश्लेषण करने वाला आत्म बोध तथा अपने स्वाभाविक आनन्द स्वरूप में तल्लीनता रूप आत्मनिष्ठा की हमें नितान्त आवश्यकता है। इन तीन गुणों के पूर्ण विकसित होने पर यह आत्मा सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था को ही निर्वाण या मुक्ति कहते हैं। महापण्डित आशाधर ने बड़े मार्मिक शब्दों में धर्म

के स्वरूप को चित्रित किया है। "आत्मा की विशुद्ध मनोवृत्ति-सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् आचरण रूप परिणति धर्म है।"

(अनगारधर्मामृत १, १०)

धर्म के नाम से स्पष्ट ज्ञान वाले व्यक्तियों को इस आत्म निर्मलता रूप पुण्य तथा परिपूर्ण जीवन की ओर व्यक्ति तथा समाज को पहुंचाने वाले धर्म के विरुद्ध आवाज उठाने का कोई कारण नहीं रहता। ऐसा धर्म जिस आत्मा में, जिस जाति में, जिस देश में, अवतीर्ण होता है, वहां आनन्द का सुधांशु अपनी अमृतमयी किरणों से समस्त सन्तापों को दूर कर अत्यन्त उज्ज्वल तथा आह्लाद पूर्ण अवस्था को उत्पन्न करता है। ऐसे धर्म की उपस्थिति में शत्रुता नहीं रहती। स्वतन्त्रता, स्नेह, समृद्धि, शान्ति सभी आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक आदि सर्वतोमुखी अभिवृद्धि से वह व्यक्ति अथवा राष्ट्र पवित्र होता है। जब इस पुण्य भू भारत में धर्ममय जीवन वाली उज्ज्वल विभूतियों का सर्वत्र विहार होता था तब यही देश सर्वांगीण विकास और अभ्युत्थान का केन्द्र स्थल बना हुआ था और मनु के शब्दों में 'इस भारत की गुणगाथा देवगण भी गाया करते थे तथा यहाँ जन्म धारण करने की कामना करते थे।' आज के भौतिकवाद के आतंक से भ्रांत भारत में पुनः सभी जीवन धर्म के संस्थापन के लिए सत्पुरुषों को सब प्रकार से प्रयत्न करना चाहिये तब ही दुखी मानव-समाज सच्ची शांति और सुख को पा सकेगा।

युक्ति तथा अनुभव से आत्मा नामक पदार्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व के सिद्ध होने पर विस्मय यह सहज शंका उद्भूत होती है, कि आत्मत्व अथवा चैतन्य की दृष्टि से जब सब आत्माएँ समान हैं तब उनमें दुःख सुख का तरतम भाव अथवा विविध वृत्तियाँ क्यों दृष्टिगोचर होती हैं? यदि इस समस्या को सुलझाने के लिए लोक मत का संग्रह किया जाए तो प्रायः यह उत्तर प्राप्त होगा—"जीवों का भाग्य ईश्वर के अधीन है, वही विश्व नियन्ता उन्हें उत्पन्न करता है, रक्षण करता है तथा अपने अपने कर्मानुसार विविध योनियों में भेज उन्हें दण्डित या पुरस्कृत करता है। वेदव्यास महाभारत में लिखते हैं—'यह जीव बेचारा अज्ञानी है, अपने दुःख-सुख के विषय में स्वाधीन नहीं है यह तो ईश्वर की प्रेरणानुसार कभी स्वर्ग में पहुँचता है तो कभी नरक में।'

एक ईश्वर भक्त अपने भाग्य निर्माण के समस्त अधिकार उस परमात्मा के हाथ में सौंपते हुए लोगों को शिक्षा देता है—

> दुनिया के कारखाने का खुदा खुद खानसामा है।
> न कर तू फिक्र रोजी की, अगर्चे मदद्दाना है॥

इस विचारधारा से अकर्मण्यता की पुष्टि देख कोई कोई यह कहते हैं कि कर्म करने में प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है हाँ, कर्मों के फल विभाजन में परमात्मा न्याय-प्रदाता का काम करता है।

कोई चिन्तक सोचता है कि जब जीव स्वेच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र है और इसमें परमात्मा के सहयोग की आवश्यकता नहीं है तब फलोपभोग में परमात्मा का अवलम्बन अंगीकार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। एक दार्शनिक कवि कहता है—

को काको दुख देत है, देत करम झकझोर ।
उरझे सुरझे आप ही, ध्वजा पवन के जोर ॥

अध्यात्म रामायण में कहा है—सुख-दुःख देने वाला कोई नहीं है, दूसरा सुख दुःख देता है यह तो कुबुद्धि ही है।

इस प्रकार जीव के भाग्य निर्माण के विषय में भिन्न भिन्न धारणाएँ विद्यमान हैं। इनके विषय में गम्भीर विचार करने पर यह उचित प्रतीत होता है कि अन्य विषयों पर विचार के स्थान में पहिले परमात्मा के विषय में ही हम समीक्षण कर लें। कारण, उस गुत्थी को प्रारम्भ में सुलझाए बिना वस्तु तत्व की तह तक पहुँचने में तथा सम्यक् चिन्तन में बड़ी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। विश्व का ईश्वर की क्रीड़ा-भूमि अंगीकार करने पर स्वतन्त्र तथा समीचीन चिन्तना का स्रोत सम्यक् रूपसे तथा स्वच्छन्द गति से प्रवाहित नहीं हो सकता। जहां भी तर्कणा ने आपत्ति उठायी वहां ईश्वर के विशेषाधिकार के नाम पर सब कुछ ठीक बन जाता है क्योंकि परमात्मा के दरबार में कल्पना की यह न दृशायी कि कल्पना और तर्क से अतीत तथा तार्किक के तीक्ष्ण परीक्षण में न टिकने वाली बातें भी यथार्थता की मुद्रा से अंकित हो जाती हैं। जैसे, पहिले वाइसराय विशेषाधिकार नामक जादू की छड़ी हिला कर अन्याय तथा अनीति को भारत के नाम पर नीति तथा न्याय क्षणमात्र में घोषित कर देता था, उसी प्रकार अनन्त आपत्तियां तथा महान् विरोधों के बीच में उस लीलामय परम पिता परमात्मा की लोकोत्तर शक्ति आदि के बल पर असम्भव भी सम्भव तथा तर्क-बाह्य भी तर्क-संगत बना दिया जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिक संकीर्णता को निर्ममता पूर्वक निकाल कर निर्मल मनोवृत्ति के साथ परमात्मा के विषय में विचार किया जाए।

ईश्वर को विश्व का भाग्य विधाता जैन दार्शनिकों ने न मानकर उसे ज्ञान, आनन्द, शक्ति आदि अनन्त गुणों का पुंज परम आत्मा

(परमात्मा) स्वीकार किया है। इस मौलिक विचार स्वातन्त्र्य के कारण महान दार्शनिक चिन्तन की सामग्री के होते हुए भी वैदिकदार्शनिकों ने षट् दर्शन की सूची में जैन दर्शन को स्थान नहीं दिया। परन्तु प्रसिद्ध षट् दर्शनों में अपना विशिष्ट स्थान रखने वाला सांख्य दर्शन ईश्वर विषयक जैन विचार शैली का समर्थन करता है। सेश्वर सांख्य नाम से विख्यात योगदर्शन भी ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं मानता। वह क्लेश, कर्मविपाकाशय से अपरामृष्ट पुरुष विशेष को ईश्वर कहता है। न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त ने मूल परमाणुओं आदि का अस्तित्व मानकर ईश्वर को जगत का उपादान कारण न मान निमित्तकारण स्वीकार किया है।

पूर्व मीमांसा दर्शन भी निरीश्वर सांख्य के समान कर्तावाद का निषेध करता है। उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त में भी ईश्वर कर्तृत्व का समर्थन दर्शन नहीं होता है। उस दर्शन में इस विश्व को ब्रह्म का अभिव्यक्त विवर्त माना है। इस प्रकार, शांत भाव से दार्शनिक वाङ्मय का परिशीलन करने पर विदित होता है कि जैनदर्शन के अकर्तृत्व सिद्धान्त में बहुत से दार्शनिकों ने हाथ बंटाया है। फिर भी यह देख कर आश्चर्य होता है कि केवल जैन दर्शन पर ही नास्तिकता का दोष लादा गया है। इसका वास्तविक कारण यह मालूम होता है कि जैनधर्म ऋग्वेदादि वैदिक वाङ्मय को अपने लिए पथ प्रदर्शक नहीं मानता। शुद्ध अहिंसात्मक विचार-प्रणाली को अपनी जीवननिधि मानने वाला जैन तत्त्वज्ञान हिंसात्मक यज्ञ विधान के प्रेरक वैदिक वाङ्मय का किस प्रकार समर्थन करेगा? इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन-दार्शनिक वेद (ज्ञान) के विरोधी हैं। जैनधर्म प्रथमानुयोग करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप अपने अहिंसामय विशिष्ट ज्ञानपुञ्जों का आराधक है। भगवज्जिनसेन ने हिंसात्मक वाक्यों

हो यम की वाणी बताते हुए अहिंसामय निर्दोष जै धर्म में वर्णित द्वादशांगमय महाशास्त्रों को ही वह माना है।

जैन-दर्शन क्रोध मान माया लोभ, हास्य, भय, विस्मय आदि विकारों से रहित वीतराग, सर्वज्ञ परम आत्मा को ईश्वर मानता है। वह विश्व की क्रीड़ा में किसी प्रकार भाग नहीं लेता। वह कृतकृत्य है, विकृतिविहीन है तथा सर्व प्रकार की पूर्णताओं से समन्वित है। उसी परमात्मा का राग द्वेष, मोह, अज्ञान आदि से अभिभूत व्यक्ति अपनी भावना और अध्ययन के अनुसार विचित्र रूप से चित्रित करते हैं। आत्मत्व की दृष्टि से हम में और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, केवल इतना ही भेद है कि हममें दैवी शक्तियाँ प्रसुप्त स्थिति में हैं और उनमें उन गुणों का पूर्ण विकास होने से वे आत्माएँ स्फीत बन चुकी हैं-इतनी निर्मल और प्रकाशपूर्ण हैं कि उनके आलोक में हम अपना जीवन उज्ज्वल और दिव्य बना सकते हैं। विद्या वारिधि बैरिस्टर चम्पतराय जी ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'की ऑफ नॉलेज' (Key of Knowledge) में लिखा है—

Man—Passions = God God + Passions = Man

अर्थात् मनुष्य—वासनाएँ = ईश्वर, ईश्वर + वासनाएँ = मनुष्य

जैन दार्शनिकों ने परमात्मा का पद प्रत्येक प्राणी के लिए आत्म जागरण द्वारा सरलता पूर्वक प्राप्तव्य बतलाया है। यहाँ ईश्वर का पद किसी एक व्यक्ति विशेष के लिए सर्वदा सुरक्षित नहीं रखा गया है। अनन्त आत्माओं ने पूर्णतया आत्मा को विकसित करके परमात्मपद को प्राप्त किया है तथा भविष्य में प्राप्त करती रहेंगी। सच्ची साधना वाली आत्माओं को कौन रोक सकता है? वास्तविक प्रयत्न शून्य दुर्बल अप वित्र आत्माओं को किसी विशिष्ट शक्ति की कृपा द्वारा मुक्ति में प्रविष्ट नहीं करवाया जा सकता। जैन दर्शन के ईश्वरवाद की महत्ता को हृदयंगम करते हुए एक उदारचेता विद्वान् ने कहा था—"यदि एक

ईश्वर मानने के कारण किसी दर्शन का 'आस्तिक' संज्ञा दी जा सकती है, तो अनन्त आत्माओं के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त करने वाले जैन-दर्शन में अनन्त गुणित आस्तिकता स्वीकार करना न्याय प्राप्त होगा।"

इस विवेचन के प्रकाश में "ईश्वर का साक्षात्कार" पुस्तक के लेखक सातवलेकर महाशय का यह लिखना अययार्थ है कि जैनियों में ईश्वर नहीं है। इनके ईश्वर को न मानने के कारण इनके पास कोई श्रेष्ठ माहात्म्य नहीं रहा।"

(पृष्ठ २६,३०)

पूर्ण ज्ञान और असीम आनन्द के भण्डार रूप श्रेष्ठ आत्मा को ही जैन ईश्वर मानते हैं और उस अवस्था की प्राप्ति ही प्रत्येक साधक का चरम लक्ष्य रहता है।

परमात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति तथा अनन्त दर्शन आदि गुणों का भण्डार है। वह संसार चक्र में परिभ्रमण कर जन्म जरा मरण की यन्त्रणा नहीं उठाता। उस ज्ञान, आनन्द, वीतराग मोह विहीन, वीत द्वेष, निर्भीक प्रशान्त, परिपूर्ण परमात्मा का विश्व के सरस-सुन्दर दृश्य में हस्तक्षेप स्वीकार करने पर वह आत्मा राग द्वेष मोह आदि दुर्बलताओं से पराभूत हो साधारण प्राणी की श्रेणी में आ जाएगा।

जब, परमात्मा में परम करुणा प्रकाशता और सर्वाङ्गीण शक्ति का भण्डार विद्यमान है, तब ऐसे समर्थ और कुशल व्यक्ति के तत्वावधान या सहयोग से निर्मित जगत् सुन्दरता, पूर्णता तथा पवित्रता की साकार प्रतिमा बनता और कहीं भी दुःख और अशान्ति का लव लेश भी न पाया जाता। कदाचित् परिस्थिति विशेष वश कोई पथ भ्रष्ट प्राणी विनाश की ओर झुकता, तो वह करुणा-सागर पहिले ही उस पथ भ्रष्ट को सुमार्ग पर लगाता और तब इस भूतल का स्वरूप दर्शनीय नहीं, सर्वदा वन्दनीय भी होता। विश्व के विधान में विधाता का हस्तक्षेप होता, तो एक कवि के शब्दों में सुवर्ण में सुगन्ध, इक्षु में फल, चन्दन में पुष्प,

विद्वान् में धनाढ्यता और भूपति में दीर्घजीवन का अभाव न पाया जाता।

प्रभु की भक्ति में निमग्न पुरुष निर्मल आकाश, रमणीय इन्द्रधनुष विशाल हिमाचल, अगाध और अपार सिंधु, सुगन्धित तथा मनोरम पुष्प आदि आकर्षक सामग्री को देखकर प्रभु की महिमा का गान करते हुए उन सुन्दर पदार्थों के निर्माण के लिए उस परमपिता के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलियाँ अर्पित करता है। किन्तु जब उसी भक्त की दृष्टि में इस जगत् की भीषण गन्दगी, बाह्य तथा आन्तरिक अपवित्रता, अनन्त विषमताएँ आती हैं, तब इन पदार्थों से परमात्मा का न्याय प्राप्त सम्बन्ध स्वीकार करने में उसकी आत्मा को अत्यधिक ठेस पहुंचती है। कौन ज्ञानवान् मांस पीप रुधिर-मल-मूत्र सदृश बीभत्स वस्तुओं में जीवों की उत्पत्ति करने के कौशल प्रदर्शन का श्रेय सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमानन्दमय परमात्मा को प्रदान करने का प्रयत्न करेगा?

शान्त भाव से विचार करने पर यह शंका प्रत्येक चिन्तक के अन्तःकरण में उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी कि उस परम प्रवीण पिता ने अपनी श्रेष्ठ कृति रूप इस मानव शरीर को 'मल-रुधिर-राध मल थैली, रूप बनाने का कष्ट क्यों उठाया? यदि विचारक व्यक्ति परमात्मा के प्रयत्न के बिना अपवित्र तथा घृणित पदार्थों का सद्भाव स्वीकार करने का साहस करता है, तो उसे अन्य पदार्थों के विषय में भी इसी न्याय को प्रदर्शित करने का सत्-साहस दिखाने में कौन सी बाधा है?

'असहमत सगम' में इस शंका का समाधान किया है कि जगत् रूप कार्य का कर्ता ईश्वर को क्यों नहीं माना जाय? जगत् का बनाने वाला

१ It is certainly not an universal truth that all things require a maker What about the food and drink that are converted in the human and animal stomach into urine faees and filth? Is this the work

ईश्वर है, तो ईश्वर का बनाने वाला अन्य होगा, उसका भी निर्माता कोई अन्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार बढ़ने वाली अनवस्था के निवार णार्थ यदि ईश्वर का सद्भाव बिना अन्य कर्ता के स्वीकार किया जाता है, तो यही नियम जगत् के विषय में भी मानना होगा। कम से कम ऐसी बात तो नहीं स्वीकार की जा सकती कि परम आत्मा मनुष्य या पशु के पेट में अपनी शक्ति द्वारा मल-मूत्रादि का निर्माण करता रहता है। भौतिक और रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा पेट में उपरोक्त

---

of a God ? I shall never believe that a God gets into the human and animal s omach and intestines and there employs himself in the manufacture storage and disposal of filth Now if this dirty work is not done by a God or Goddess but by the operation of different kinds of elements and things on one anothe in other words if bodily products be the result of purely physical and chem cal process going on in the stomach in testines and the l ke it is absolutely untrue to say that it is a rule in nature acco ding to which every thing must have a maker or manufac urer The argument is also self contradictory with respect to the maker of that supposed world maker of ours for on the supposition that every thing must have a maker we should have a maker of the maker and another maker of this makers maker and so forth There is no escape from th s di ficulty except by holding that the world mak r is self existent But if nature could produce an un made maker there is nothing surprising in its produ cing a wor d tha i self sufficient and capable of progre s and evolution

Confluence of Opposites p 231

र्य होता है, एवं अंगीकार करने पर यह धारणा, कि प्रत्येक र्य का निर्माता होना ही चाहिए, धराशायी हो जाती है।

प्रभु की महिमा का वर्णन करते हुए राम भक्त कवि तुलसी कहते 'सीय राममय सब जग जानी'। दूसरा कवि कहता है— "जले विष्णु थले विष्णु आकाशे विष्णुरेव च"—इन भक्त जनों की दृष्टि में गत के कण कण में एक अखण्ड परमात्मा का वास है। सुनने में ह बात बड़ी मधुर मालूम होती है, किन्तु तर्क की कसौटी पर नहीं कती। यदि सम्पूर्ण विश्व में परमात्मा व्याप्त भरा हुआ हो तो उसमें पाद स्वयं गमनागमन आदि क्रियाओं का पूर्ण अभाव होगा। क्योंकि पापक वस्तु में परिस्पन्दन रूप क्रिया का सद्भाव नहीं हो सकता। त अनादि से प्रवाहित जड़ चेतन के प्राकृतिक संयोग वियोग रूप स जगत के पदार्थों में स्वयं संयुक्त वियुक्त होने की सामर्थ्य है, तब रव विधाता नामक अन्य शक्ति की कल्पना करना तर्कसंगत नहीं है।

वैज्ञानिक जूलियन हक्सले कहता है[१]—'इस विश्व पर शासन रने वाला कौन या क्या है? जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है, वहाँ क हम यही देखते हैं कि विश्व का नियन्त्रण स्वयं अपनी ही शक्ति हो रहा है। यथार्थ में देश और उसके शासक की उपमा इस विश्व लगाना मिथ्या है।'

कर्तृत्व पक्ष वालों के समक्ष यह युक्ति भी उपस्थित की जाती है : जब कर्ता के अभाव में प्रकृति सिद्ध सनातन ईश्वर का सद्भाव रह कता है और इसमें कोई आपत्ति या अव्यवस्था नहीं आती है तब ही न्याय जगत् के अन्य पदार्थों के कर्तृत्व के विषय में क्यों न लगाया ए? ऐसा कोई प्रकृति का अटल नियम भी नहीं है कि कुछ वस्तुओं

१ Who and what rules the Universe? So far as ou can see it rules itself and indeed the whole analogy ith a country and its ruler is false —Julian Huxley.

का कर्ता पाया जाता है, इसलिए सब वस्तुओं का कर्ता होना चाहिए ऐसा कहने से तर्कशास्त्रगत अल्प-पदार्थ सम्बन्धी नियम को सार्वत्रि पाया जाने वाला नियम मानने रूप दोष (Fallacy) आएगा

इस प्रसंग में 'की ऑफ नॉलेज' की निम्न पंक्तियाँ उपयुक्त हैं-

'सृष्टिकर्तृत्व के विषय में यह प्रश्न प्रथम उपस्थित होता है कि ईश्वर ने इस विश्व का निर्माण क्यों किया ? एक सिद्धान्त कहता है कि इससे उसे आनन्द की उपलब्धि हुई, तो दूसरा कहता है कि वह अकेः पन का अनुभव करता था और इसलिए उसे साथी चाहिए थे। तीस सिद्धान्त कहता है कि वह ऐसे प्राणियों का निर्माण करना चाहता जो उसका गुणगान करें तथा पूजा करें। चौथा पक्ष कहता है कि विनोदवश विश्व निर्माण करता है। इस विषय में यह विचार उत्प होता है कि विश्वकर्ता की ऐसा जगत् निर्माण करने की इच्छा क्यों जिसमें बहुत बड़ी संख्या में प्राणियों को नियमतः दुःख और क भोगने पड़ते हैं? उसने अधिक सुखी प्राणी क्यों नहीं बनाए जो उस साथ में रहते' ?'

---

* The first question which arises in connecti with the idea of creation is why should God make t world at all ? One system suggests that he wanted make the world because it pleased him to do another that he felt lonely and wanted company third that he wanted to create beings who would pra his glory and worship a fourth that he does it in sp and so on.

Why should it please the creator to create a wo where sorrow and pain are the inevitable lot of t majority of his creatures ? Why should he not ma happier beings to keep him company ? —Key of Kno ledge P 135

कर्तृत्व का परमात्मा में आरोप करने से वह वन्दनीय विभूति राग द्वेष, मोह आदि विकार युक्त बन साधारण मानव के धरातल पर आ गिरेगी और ऐसी स्थिति में वह दिव्यानन्द के प्रकाश से वंचित हो पवित्र आत्माओं का आदर्श भी न रहेगी।

कर्तृत्व के पंक में फँसे हुए उस परमात्मा के विरुद्ध विवेक के व्याख्यान में बैरिस्टर चम्पतरायजी का यह आरोप विशेष आकर्षक तथा प्रभावक मालूम होता है— 'जिसने मलिनता की मूर्ति अत्यन्त बीभत्स, मल मूत्र की खानि स्वरूप शरीर में इस मानव को उत्पन्न करके उस शरीर के ही भीतर इसे कैद कर रखा है, वह परम पिता, परम दयालु बुद्धिमान् परमात्मा जैसा पवित्र वस्तु नहीं हो सकती। ऐसी कृति तो निर्दयता एवं प्रतिशोध के दुर्भाव को स्पष्टतया प्रमाणित करती है।"

पं० जवाहरलाल नेहरू अपने आत्म-चरित्र 'मेरी कहानी' में अपने हृदय के मार्मिक उद्गारों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं—' परमात्मा की कृपालुता में लोगों की जो श्रद्धा है, उस पर कभी कभी आश्चर्य होता है कि किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उल्टा सुबूत भी उस श्रद्धा की दृढ़ता की परीक्षाएं मान ली जाती हैं।"

जे० राड हापकिन्स की ये पंक्तियां अन्तःकरण में गूँजती हैं—

[1]"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मैं करूँ विवाद,

---

[1] Thou art indeed just Lord if I contend
With thee but sir so what I plead is just
Why do sinner s ways prosper ? and why must
Disappointment all I endeavour end ?
Wert thou my enemy O thou my friend
How woudst thou worse I wonder than thou dost
Defeat thwart me ? Oh the sots and thrills of lust
Do in spare hours more thrive than I that spend
Sir life upon thy cause

किन्तु नाथ मरी भी है, यह न्याय युक्त परियाद।
फलते और फूलते हैं क्यों पापी कर कर पाप,
मुझे निराशा देते हैं क्यों सभी प्रयत्न कलाप।
हे प्रिय बन्धु, नाथ मेरे यदि तू करता रिपु का व्यवहार,
तो क्या इससे अधिक पराजय औ बाधाओं का वार।
वह व्यभिचारी वहाँ व मद्य और विषयों के दास,
भोग रहे व पड़े मौज में हैं जीवन के विभव विलास।
और यहाँ मैं तेरी खातिर काट रहा हूँ जीवन नाथ
हा, दर पथपर ही स्वामी घोर निराशाओं के साथ।

विश्व का ऐसा करुण व्यथित चित्र चिन्तक को चकित बना कर्तृत्व की ओर से पराङ्मुख कर देता है। बिहार के भूकम्पपीड़ित प्रदेश में पर्यटन द्वारा दुःखी व्यक्तियों का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर नेहरू जी ने लिखा था—"हमें इस पर भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की, कि पहिले तो हमको त्रुटियों से पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिए, हमारे लिए कठोर और दुःखपूर्ण संसार की रचना कर दी, चीता भी बनाया और भेड़ भी, और हमको सजा भी देता है।'

देखिए मृत्यु की गोद में जाते जाते पंजाब केसरी लाला लाजपत राय कितनी सजीव और अमर बात कह गए हैं— क्या सुमीश्वर्ती विषमताओं और क्रूरताओं से परिपूर्ण यह जगत् एक भद्र परमात्मा की कृति हो सकता है? जब कि हजारों मस्तिष्कहीन विचार तथा विवेक-शून्य अनैतिक, निर्दय, अत्याचारी जालिम लुटेरे, स्वार्थी मनुष्य विलासिता का जीवन बिता रहे हैं और अपने अधीन व्यक्तियों को हर प्रकार से अपमानित, पद दलित करते हैं और मिट्टी में मिलाते हैं इतना ही नहीं चिढ़ाते भी हैं। ये दुःखी लोग अवर्णनीय कष्ट, घृणा तथा निर्दयतापूर्ण अपमान सहित जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें

जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ भी नहीं मिल पातीं। भला, ये सब विषमताएँ क्यों हैं ? क्या ये न्यायशील और ईमानदार ईश्वर के कार्य हो सकते हैं ?" आगे चल कर पंजाब-केसरी कहते हैं 'मुझे बताओ तुम्हारा ईश्वर कहाँ है। मैं तो इस निस्सार जगत् में उसका कोई भी निशान नहीं पाता'।"

स्व० लाला जी के अमर उद्‌गारों के विरुद्ध शायद कर्तृत्ववाद का प्रगाढ़ पोषक यह कहे कि यह तो सफल राजनीतिज्ञ की जोशभरी वाणी है, जो प्रशान्त दार्शनिक चिन्तन के विमल प्रकाश से बहुत दूर है। ऐसे व्यक्तियों को पाश्चात्य तर्क विद्या के पिता अरस्तू महाशय जैसे शान्त, विचारवान् चिन्तक की निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़कर अपने व्यामोह को दूर करना चाहिए—'ईश्वर किसी भी दृष्टि से विश्व का निर्माता नहीं है। सब अविनाशी पदार्थ परमार्थिक हैं। सूर्य चन्द्र तथा दृश्यमान आकाश सब सक्रिय हैं। ऐसा कभी नहीं होगा कि उनकी

' Can this world full of miseries inequalities cruelties & barbarities be the handiwork of a good God while hundreds and thousands of wicked people people without brains without head or heart immoral and cruel people tyrant oppressors exploiters and selfish people living in luxury and in every possible way insulting trampling under foot grinding into dust and also mocking their victims these latter are living lives of untold misery degradation and disgrace of sheer want? They do not even get the necessities of life Why all this inequality ? Can this be the handiwork of a just and true God ?

Where is thy God ? I find no trace of him in this absurd world

—Lala Lajpatrai in Mahratta 1933.

गति अवरुद्ध हो जाए। यदि हम उन्हें परमात्मा के द्वारा प्रदत्त पुरस्कार मानें तो या तो हम उसे अयोग्य न्यायाधीश अथवा अन्यायी न्याय कर्ता बना डालेंगे। यह बात परमात्मा के स्वभाव के विरुद्ध है। जिस आनन्द की अनुभूति परमात्मा को होती है वह इतना महान् है कि हम उसका कभी रसास्वाद कर सकते है। वह आनन्द आश्चर्यप्रद है¹।'

ईश्वर कर्तृत्व के सम्बन्ध में अत्यन्त आकर्षक युक्ति यह उपस्थित की जाती है 'क्या करें, परमात्मा तो निष्पक्ष न्याय दाता है, जिन्होंने पाप की पोटली बांध रखी है उनके कर्मानुसार वह दण्ड देता है. दया की अपेक्षा न्याय का आसन ऊँचा है।"

ऐसे कर्तृत्व समर्थक व्यक्तियों को सोचना चाहिए कि अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति तथा अनन्त करुणापूर्ण परमपिता परमात्मा के होते हुए दीनप्राणी पापों के सचय में प्रवृत्ति करें उस समय तो वह प्रभु चुप चाप इस दृश्य को देखता रहे और दण्ड देने के समय सतर्क और सावधान हो अपने भीषण न्यायास्त्र का प्रयोग करने के लिए उद्यत हो उठे। यह बड़ी विचित्र बात है! क्या सर्वशक्तिमान् परमात्मा अनथ अथवा अनीति के मार्ग में जाने वाली अपनी सन्तति समान जीवराशि को पहिले से नहीं रोक सकता? यदि ऐसा नहीं है तो सर्व शक्तिमान् का क्या अर्थ है?

---

१ God is in no sense the Creator of the universe All imperishable things are actual sun moon while visible heaven is always active There is no time that they will stop If we attribute these gifts to God we shall make him either an incompetent judge or an un just one and it is alien to his nature Happiness which God enjoys is as great as that which we can enjoy sometimes It is marvellous

—Aristotle

Bankruptcy of Religion — 'धर्म का दिवालियापन' अंग्रेजी ग्रन्थ में बड़े मार्मिक शब्दों में परम उपकारी परमात्मा के होते हुए विश्व में जीवों की कष्टपूर्ण अवस्था के सद्भाव पर आलोचना की गई है। पाप के फलस्वरूप युद्ध का प्रचण्ड दण्ड ईश्वर प्रदत्त मानना अत्यन्त जघन्य तथा महान् प्रतिहिंसात्मक कार्य है। एक शक्तिशाली पिता अपनी कन्या पर अत्याचार को चुपचाप देखता है और पीछे यह कहता है कि इस लड़की ने मेरे गौरव पर पानी फेर दिया है। ऐसे पिता के समान ईश्वर का भी कार्य माना जायगा। समर्थ एवं परोपकारी महान् आत्मा पहले ही अनर्थ को रोकने का उद्यम करेगा जिससे पश्चात्, दण्डदान की अप्रिय स्थिति उत्पन्न न हावे¹।

---

१ We should like to see this supreme benevolence that feeds ravens making some mark in the human order helping or halting wisdom to les en the world old flow of tears and blood guarding the innocent from pain and privation snatching the woman and child from war drunk brute or what would be simpler and better preventing the birth of the brute or the germination of his impulses Just this has always been the supreme difficulty of the theologician Even today we gaze almost helplessly upon the wars the diseases the poverty the crimes the narrow minds and stunted natures which darken our life And God it seems was bu y g lding the sun set or putting pretty eyes in peacock s tails Religious wri ers say that God permitted the war on account of sin The motive matters little Such permission is still vindictive punishment of the crudest order

'What would you think of the parent who would.

गांधी जी के द्वारा अत्यन्त पूज्य गुरु-तुल्य आदरणीय माने गए महानुभाव शतावधानी राजचन्द्र जी लिखते हैं—"जगत्कर्ता ने इस पुरुषों को क्यों जन्म दिया ? इस नाम डुबाने वाले पुत्र का जन्म देने की क्या जरूरत थी जो विषयादिकों में निमग्न हो अपनी आत्मा को ईश्वरीय प्रकाश से पूर्णतया वंचित रखने के प्रयत्न में संलग्न रहता है[१] ?"

इस प्रकार बहुजन समाज सम्मत जगत्-कर्तृत्वकी मान्यताके विरुद्ध तर्क और अनुभवों[२] के आधार पर विषयका विवेचन किया जाय तो वह एक ग्रन्थ बन जायगा कर्तृत्ववादी साहित्य का भी सम्यक् प्रकार मनन और चिन्तन किया जाय तो उसी में इस बात को सिद्ध

stand by and see his daughter outraged while fully able to prevent it ? And would you be reconcolled if the father proved to you that his daughter had offended his dignity in some way ?

—Bankruptcy of Religion p 30 34

१ श्रीमद् राजचन्द्र पृ० ६६

२ अनुभव के आधार पर साधुचेतस्क कवि भूधरदास की वाणी से क्या ही सुन्दर तत्त्व विधाता के सन्मुख उपस्थित हुआ है —

सज्जन जो रचे तो सुधारस सों कौन काज,
दुष्ट जीव किये कालकूट सों कहा रही।
दाता निरमाये फिर थापे क्यों कल्पवृच्छ,
याचक विचारे लघु तृण हू तें हैं सही॥
इष्ट के संयोग तें न सीरा घनसार कछु,
जगत् को ख्याल इन्द्रजाल सम है वही।
ऐसी दोय दोय बात दीनी विधि एक ही सी,
काहू को सराहे मेरे बोरा मन है यही ॥८०॥ जैनशतक

करने वाली पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी कि परमात्मा सत् + चित + आनन्द स्वरूप है। जगत का उद्धार करने और धर्म का संस्थापन करने के लिए अवतार धारण करने वाले कवि वेदव्यास की गीता के प्रमुख पुरुष श्रीकृष्णचन्द्र की वाणी से ही यह सत्य प्रकट होता है—कि परमात्मा न लोक का कर्ता है न कर्म अथवा कर्म फलों का संयोग कराने वाला है, प्रकृति ही इस प्रकार प्रवृत्ति करती है, वह परमात्मा पाप या पुण्य का अपहरण भी नहीं करता। ज्ञान पर अज्ञान का आवरण पड़ा है इसलिये प्राणी विमुग्ध बन जाते हैं[१]।"

जैनाचार्य अकलंक ने वीतराग परमात्मा को इन मार्मिक शब्दों में प्रणाम किया है—

> "त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम्
> साक्षात् येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि।
> रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभादयो
> नालं यत्पदलङ्घनाय स महादेवो मया वन्द्यते॥"

—जो त्रिकालवर्ती लोक तथा अलोक के समस्त पदार्थों का हस्तगत अंगुलियों तथा रेखाओं के समान साक्षात् अवलोकन करते हैं तथा राग द्वेष, भय, व्याधि, मृत्यु जरा, चंचलता, लोभ आदि विकारों से विमुक्त हैं, उन महादेव-महान् देव की मैं वन्दना करता हूँ।

---

१ "न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥"
—गीता ५-१४,१५

विश्व विचार

जो विश्व सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा की ज्ञान-ज्योति के द्वारा आलोकित किया जाता है उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। जब तत्त्व ज्ञान के उदय तथा विकास के लिये सात्त्विक भावापन्न व्यक्ति यह सोचता है—

"को मैं? कहा रूप है मेरा? पर है कौन प्रकारा हो?
को भव कारन? बंध कहा? को आस्रव-रोकनहारा हो?
खिपत बन्ध-करमन काहे सों? थानक कौन हमारा हो?'
—कविवर भागचन्द

तब आत्म स्वरूप के साथ साथ जगत के अन्तस्तल का सम्यक् परिशीलन[1] भी अपना असाधारण महत्त्व रखता है। साधारणतया सूक्ष्म चर्चा की कठिनता से भीत व्यक्ति तो यह कहा करते हैं कि विश्व के परिचय में क्या धरा है, अरे, लोक हित करो और प्रेम के साथ रहो इसी में सब कुछ है। ऐसे सत्व शून्य व्यक्तियों को पथप्रदर्शक यदि माना जाय तो जगत में ज्ञान विज्ञान, कला-कौशल आदि के विकासादि का अभाव होगा। यह सत्य है कि कृति में पवित्रता का प्रवेश हुए बिना परमधाम की प्राप्ति नहीं होती किन्तु उस कृति के लिए सम्यक् ज्ञान का दीप आवश्यक है, जो अज्ञान अन्धकार को दूर करे ताकि मार्ग और अमार्ग का हमें सम्यक् बोध हो। जगत की विशालता और उसके रंगमंच पर प्रकृति नटी की भांति भांति की लीलाओं के अध्ययन से

[1] इस विषय पर विशेष वैज्ञानिक विवेचन "धर्म की आधार शिला आत्मद्रव्य" शीर्षक निबन्ध जैनशासन के पृ० १७२५ में किया गया है।

तत्व में उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश स्वभाव पाया जाता है। ऐसी कोई सद्रात्मक वस्तु नहीं है, जो केवल स्थितिशील ही हो तथा उत्पत्ति और विनाश के चक्र से बहिर्भूत हो। जैन सूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने लिखा है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" । इस विषय में पञ्चाध्यायीकार लिखते हैं—कि 'तत्व का लक्षण सत् है। अभेद दृ से तत्व को सत्स्वरूप कहना होगा। यह सत् स्वतः सिद्ध है—इसका अस्तित्व अन्य वस्तु के अवलम्बन की अपेक्षा नहीं करता। इ कारण, यह तत्व अनादि निधन है—स्वसहाय और विकल्प रहि भी है।

साधारण दृष्टि से एक ही वस्तु में उत्पत्ति स्थिति व्यय का क असम्भव बातों का भाण्डार प्रतीत होता। किन्तु सूक्ष्म विचार भ्रम क्षणमात्र में उन्मूलन किये बिना न रहेगा। यदि 'आम' को प (तत्व) का स्थानापन्न समझा जाय, तो कहना होगा कि कच्चे में पकने के समय हरेपन का विनाश हुआ, पीले रंगवाली पकी अव का उसी समय प्रादुर्भाव हुआ और इन दोनों अवस्थाओं को स्वी करने वाले आम का स्थायित्व ध्रौव्यत्व बना रहा। यह तो उस 'सत् दर्शन की दृष्टि का भेद है जो एक सत् अथवा तत्व त्रिविध रू ज्ञान गोचर बनता है। आम की पीली अवस्था पर दृष्टि डालने से का उत्पाद हमारे दृष्टि बिन्दु में प्रधान बनता है। विनाश होने वाल रस को लक्ष्य गोचर बनाने पर सत् का विनाश हमें दिखता है। सामान्य पर दृष्टि डालने पर न तो उत्पाद मालूम होता है औ व्यय। इस आम के समान विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय ध्रौव्य युक्त हैं। तार्किक समन्तभद्र ने इसीलिये तत्व को पूर्व त्रिविधताओं से समन्वित स्वीकार किया है—"तस्मात् त्रयात्मकम्।"

इस त्रिविध तत्व-दृष्टि में किन्हीं को तीव्र विरोध का दर्शन

तर्काभास चैन नहीं लेने देता। उन्हें इस बात को ध्यान में रखना होगा, कि तत्त्व दर्शन की तीन दृष्टियों के परिणाम-स्वरूप वह सत् त्रयात्मक प्रतीत होता है। विरोध तो तब हो जब एक ही दृष्टि से तीनों बातों का वर्णन किया जाए। नवीन पर्याय की अपेक्षा उत्पाद कहा है और पुरातन पर्याय की दृष्टि से व्यय बतलाया है। नवीन पर्याय की दृष्टि से उत्पाद के समान व्यय कहा जाय अथवा पुरातन पर्याय की अपेक्षा से ही व्यय के समान उत्पाद माना जाय अथवा ध्रौव्यता स्वीकार की जाए तो विरोध तत्व का अवस्थिति को सङ्कटापन्न बनाये बिना न रहेगा। स्याद्वाद की संजीवनी के संस्पर्श को प्राप्त करने पर विरोधादि विकारों का विष तत्व का प्राणापहरण न कर उसे अमर जीवन प्रदान करता है। इस स्याद्वाद विद्या के विषय में विशद विवेचन आगे किया जायगा। इस प्रसंग में इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कोई वस्तु एकान्त से स्थितिशील, उत्पत्ति अथवा विनाशात्मक नहीं पायी जाती। अतएव वेदान्तियों का ब्रह्म जितना अधिक सत्य है, उतना ही सत्य अन्य तत्व भी हैं।

विज्ञान विचार-सम्पन्न दार्शनिक चिन्तन तो यह बताता है कि सम्पूर्ण विश्वपर्याय अवस्था (Modification) की दृष्टि से क्षण क्षण में परिवर्तनशील है। इस दृष्टि से तत्व को क्षणिक विनाशी अथवा असत् रूप धारण करने वाला भी कह सकते हैं। यदि उस तत्व पर द्रव्य (Substance) की अपेक्षा विचार करें तो तत्व को आदि और अन्त रहित अंगीकार करना होगा। सर्वथा असत् या अभावरूप होने वाली वस्तु को विज्ञान के पण्डित भी तो नहीं मानते। वस्तु कितने ही उपायों द्वारा मृत्यु अथवा विनाश के मुख में प्रविष्ट कराई जाय,[1]

---

१ ex nihilo nihil fit et in nihilum nihil potest reverti — Democritus nothing can ever become Something Nor can Something become nothing

उसका समूल नाश न होकर मूलभूत तत्व अवश्य अवस्थित रहेगा। इस महान सत्य का स्वीकार करने पर विश्व निर्माण कर्ता ईश्वर को मानते हुए भी जगत् की सुव्यवस्था आदि में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि यह जगत् सत्स्वरूप होने से अनादि और अनिधन अनन्त है। भला, जिन तत्वों को अवस्थिति के लिए स्वयं का बल प्राप्त है, दूसरे शब्दों में जो स्व का अवलम्बन करने वाले आत्म-शक्ति का आश्रय तथा सहयोग प्राप्त करने वाले हैं, उनके भाग्य निर्माण की बात अन्य विजातीय वस्तु के हाथ सौंपना अनावश्यक ही नहीं, वरन् स्वरूप की दृष्टि से भयकर अत्याचार होगा। एक द्रव्य जो स्वयं निसर्गतः समर्थ, स्वावलम्बी, स्वोपजीवी है, उस पर किसी अन्य शक्ति का हस्तक्षेप होना न्यायानुमोदित नहीं कहा जा सकता। वास्तव में देखा जाए तो जगत् पदार्थों के समुदाय का ही नाम है, पदार्थपुञ्ज को छोड़ विश्व नाम की और कोई वस्तु ही नहीं जो अपने स्रष्टा का सहारा चाहे। वस्तु का स्वाभाविक स्वरूप ऐसा है कि उसे अन्य भाग्य विधाता की कोई आवश्यकता नहीं है, जिसकी इच्छानुसार वस्तु को विविध परिणमनरूप अभिनय करने के लिए बाध्य होना पड़े। विधाता के भक्तों के मस्तिष्क में आदि तथा अन्तरहित स्रष्टा के लिये जिस युक्ति तथा श्रद्धा के कारण स्थान प्राप्त है वही औदार्य अन्य वस्तुओं के अनादि निधन मानने में प्रदर्शित करना चाहिये। इस प्रकार जब विश्व अनादि निधन है, तब बाइबिल की यह मान्यता कि "परमात्मा ने छह दिन में सम्पूर्ण जगत् को बनाया, मनुष्य के आकार को बना फूंक मार कर उसमें रूह पैदा कर दी, इस महान कार्य के करने से श्रान्त होने के कारण रविवार को वह विश्राम करता रहा" तार्किकता की कसौटी पर अथवा दार्शनिक अग्नि-परीक्षण में नहीं टिक पाती।

जिस प्रकार सचेतनतत्व अनादि निधन है, उसी प्रकार अचेतनतत्व भी है। ब्रह्मरूप अण्ड से विश्व की उत्पत्ति जिस तरह एक मनोहर कल्पना

मात्र है, जिसका सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है उसी तरह पश्चिम के पण्डित जाम्लाम महाशय का यह कहना है कि—"पहिले जगत् में सचेतन अचेतन नाम की वस्तु नहीं थी न पशु पक्षी थे, और न दृश्यमान पदार्थ ही। पहिले सम्पूर्ण सौर मण्डल प्रकाशमान गैस रूप में विचित्र था, जिसे नेबुला (Nebula) कहते हैं। धीरे धीरे शीत के निमित्त से वह वाष्प द्रव और दृढ़ पदार्थ बन चला, उसका ही एक अंश हमारी पृथ्वी है।" सचेतन जगत् के विषय में कल्पना का आश्रय लेने वाले यह पश्चिमी विद्वान् कहते हैं कि 'अमीबा नामक तत्व विकास करते हुए पशु पक्षी, मनुष्य आदि रूप में प्रस्फुटित हुआ। एक ही उपादान से बनने वाले प्राणियों की भिन्नता का कारण डारविन आकस्मात्वाद को बताता है, किन्तु लेमाक का अनुमान है कि बाह्य परिस्थितियों ने परिवर्तन और परिवर्धन का कार्य किया है, जिसमें अभ्यास, आवश्यकता, परम्परा आदि विशेष निमित्त बनते हैं। विकास सिद्धान्त के महान् पण्डित डारविन महाशय ने ही यह नवीन तत्व खोजकर बताया, कि मनुष्य बन्दर का विकास युक्त रूप है। प्रतीत होता है कि यूरोपियन होने के कारण डारविन को सन्तुलन के लिए अपने बन्दर और अपने देश के मनुष्यों के विषय में चिन्तना करनी पड़ी होगी।

ज्ञानात्मक आत्मतत्व स्वतन्त्र है अनादि निधन है। वह पंचभूतों से उत्पन्न नहीं है। अतः 'ईश्वर का साक्षात्कार' पुस्तक में यह कथन कि जैनियों ने जीव को पंचभूतों से उत्पन्न माना है (पृ० ३७) नितान्त भूल भरा है जैसे प्रकाशपुञ्ज सूर्य को श्याम वर्ण का कहना है।

विश्व में सचेतन-अचेतन तत्वों का समुदाय विश्व विविधता तथा ह्रास अथवा विकास का कार्य किया करता है। यहां जड़तत्व के विषय में विशेष विचार करना आवश्यक है। जिस जड़ तत्व को हम स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु तथा कर्ण इन पांच इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अथवा उपभोग करते हैं उस जड़तत्व को जैन दार्शनिकों

ने 'पुद्गल' संज्ञा दी है। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण पाये जाते हैं उस पुद्गल (Matter) या मैटर कहते हैं। सांख्य दर्शन का 'प्रकृति' शब्द पुद्गल को समझने में सहायक हो सकता है।

पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण का सद्भाव अवश्यम्भावी है। ये चारों गुण प्रत्येक पुद्गल के छोटे-बड़े रूप में अवश्य होंगे। ऐसा नहीं है कि किसी पदार्थ में केवल रस अथवा गन्ध आदि पृथक् पृथक् हों। जहाँ स्पर्श आदि में से एक भी गुण होगा, वहाँ अन्य गुण प्रकट या अप्रकट रूप में अवश्य पाये जायेंगे। वैशेषिक दर्शनकार की दृष्टि में वायु में केवल स्पर्श नाम का गुण कहा है। यथार्थ बात यह है कि पवन में स्पर्श के समान रस, गंध, वर्ण भी हैं पर वे अनुद्भूत अवस्था में हैं। यदि केवल स्पर्श ही पवन का गुण माना जाए तो हाइड्रोजन, ऑक्सीजन नाम की पवनों के संयोग से उत्पन्न जल में भी पवन के समान रूप का बोध नहीं होना चाहिए था। जब जलपर्याय में रूप आदि का बोध होता है तब बीज रूप पवन में भी स्पर्श आदि के समान रूप आदि का भी सद्भाव स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार जड़-तत्व के विषय में अनेक दार्शनिकों की भ्रान्त धारणाएँ हैं। वस्तुतः देखा जाए तो पुद्गल अगणित रूप से परिवर्तन का खेल दिखाकर जगत् को चमत्कृत करता है। चार्वाक के समान पृथ्वी, जल, अग्नि वायुरूप भूतचतुष्टय पृथक् अस्तित्व नहीं रखते। जो पुद्गल परमाणु पृथ्वी रूप में परिणत होते हैं, अनुकूल सामग्री पाकर उनका जल पवनादिरूप परिवर्तन हुआ करता है। दृश्यमान जगत् में जो पौद्गलिक खेल है उसके आधारभूत प्रत्येक पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाया जावेगा।

वैशेषिक दर्शन अग्नि के तेजस्वी रूप के समान सुवर्ण के तेजपूर्ण वर्ण को देख उसमें अनुद्भूत अग्नि तत्व की कल्पना करता है। यदि शक्ति की अपेक्षा कहा जाय तो जलीय परमाणुओं तक में अग्निरूप परिणत होने की भी सामर्थ्य है। इतना ही क्यों, वह तो अनन्त प्रकार

का परिणमन दिखा सकते हैं। ऐसी स्थिति में सुवर्ण में अनुद्भूत अग्नि तत्त्वमदश विचित्र वैशेषिक मान्यताएँ सत्य की भूमि पर प्रतिष्ठा नहीं पातीं।

सांख्यदर्शन अमूर्त प्रकृति को अमूर्तिक मान मूर्तिमान् विश्व की सृष्टि को उसकी कृति स्वीकार करता है। पर वैज्ञानिकों को इसे स्वीकार करने में कठिनता पड़ेगी कि अमूर्तिक से मूर्तिक की निष्पत्ति किस न्याय से सम्भव होगी? जैन दार्शनिक पुद्गल के परमाणु तक को मूर्तिमान् मान कर मूर्तिमान् जगत् के उद्भव को बताते हैं।

रेडियो, ग्रामोफोन, अणुबम आदि जगत् को चमत्कृत करने वाली वैज्ञानिक शोध और कुछ नहीं पुद्गल की अनन्त शक्तियों में से कतिपय शक्तियों का विकासमात्र है। वैज्ञानिक लोग एक स्थान के संवाद को 'ईथर' नाम के काल्पनिक माध्यम को स्वीकार कर सुदूर प्रदेश में पहुँचाते हैं। इस विषय में हजारों वर्ष पूर्व जैन वैज्ञानिक ऋषि यह बता गये हैं कि पुद्गल पुञ्ज (स्कन्ध) की एक ऐसी बड़ी महास्कन्ध नाम की सम्पूर्ण लोकव्यापी अवस्था है। वह अन्य भौतिक वस्तुओं के समान स्थूल नहीं है। उस सूक्ष्म किन्तु जगत् व्यापी माध्यम के द्वारा सुदूर प्रदेश के सम्वाद आदि प्राप्त होते हैं। शब्द उस पुद्गल की ही परिणति है। आज भौतिक विज्ञान के पण्डितों ने शब्द का संग्रह करना, यन्त्रों के द्वारा घटाने बढ़ाने आदि कार्यों से उसे भौतिक या पौद्गलिक मानने का मार्ग सरल कर दिया है, अन्यथा वैशेषिक दर्शन वालों को यह समझाना अत्यन्त कठिन था कि शब्द को आकाश का गुण कहने वाली उनकी मान्यता संशोधन के योग्य है। शब्द को अनादि आकाश का गुण मान मीमांसक लोग भी वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहाया करते थे। इस तरह शब्द को पुद्गल की पर्याय मानने पर अनेक पुरातन भारतीय दार्शनिकों की भ्रान्त धारणाएँ धराशायी हो जाती हैं।

पुद्गल की अचिन्त्य शक्ति जैन संतों के प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन का परिणाम है। पार्थिव पत्थर का कोयला अग्निरूप परिणत हुआ देखा जाता है, सीप के आधार को पाकर जलबिन्दु का पार्थिव मोती रूप में परिणमन होता है। इस प्रकार विचित्र पौद्गलिक परिणति को हृदयंगम करते हुए दर्शन शास्त्र की भूल भुलैया से मुमुक्षु को अपने मस्तिष्क की रक्षा करनी चाहिए।

इस पुद्गल से सम्बद्ध जीव नाना में अगणित रूप धारण करता है। ज्ञान और आनन्द स्वरूप आत्मा की पौद्गलिक शक्तियों द्वारा शरीर रूपी कारागार में बन्दी बना अपनी विचित्र शक्ति का प्रदर्शन करती है। पृथ्वी जल अग्नि, वृक्ष पवन आदि शरीरों को धारण कर यह जीव पृथ्वी आदि नाम से पुकारा जाता है—तत्वतः सब आत्माएँ समान हैं। यह पुद्गल का पौशाक ही उनमें पार्थक्य की प्रतीति कराती है। पृथ्वी जल आदि रूप में पुद्गल के निमित्त से जीव की परिणति जान कर तथा उसका यथार्थ रहस्य न समझ कर शोधक विद्वान्[1] यह विचित्र धारणा कर बैठे कि जैनियों ने स्वतन्त्र पृथ्वी जल, पवनरूप स्वतन्त्र एक एक जीवात्मा स्वीकार किया है। उन्हें मालूम होना चाहिए कि पाषाण मृत्तिका, जल, हिम आदि आदि में अनन्त निकास शून्य आत्माओं का सद्भाव जैन दार्शनिकों ने माना है।[2] उत्तररामचरित्र में वर्णित सीता माता का पृथ्

---

१ This doctrine is entirely misunderstood by oriental scholars who go to the extent of attributing to Jain Philosophy a primitive doctrine of animism that earth water air etc have their own souls

Prof A Chakravarty in the Cultural Heritage of India —P 202

२ "पृथ्वी—यदि वत्से पवित्रीकुरु रसातलम्। राम —हा

माता की गोद में ममता जान वाली अद्भुत बात यहाँ नहीं स्वीकार की गयी है। इस विशाल पृथ्वी को पुद्गल की स्थूल पर्याय मात्र माना गया है उसमें मातृत्व अथवा देवीपन की कल्पना जैन वैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं की।

इस पुद्गल का सब से छोटा अंश जिसका दूसरा भाग न हो सके परमाणु कहलाता है। यह परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होता है। जब स्निग्धता और रूक्षता के कारण दो या अधिक परमाणु मिलकर बंधते हैं तब पुञ्जीभूत परमाणु पिण्ड को 'स्कन्ध' कहते हैं। वैशेषिक दर्शन अपनी स्थूल दृष्टि से सूर्य के प्रकाश में चलते फिरते धूलि आदि के कणों को परमाणु समझता है। ऐसे कथित तथा विभागरहित कहे जाने वाले वैशेषिक के परमाणुओं के वैज्ञानिकों ने विद्युत शक्ति की सहायता से अनेक विभाग करके अणुवीक्षण यन्त्र से दर्शन किये हैं। जैन दार्शनिकों की सूक्ष्मचिन्तना तो यह बतलाती है कि किसी भी यन्त्र आदि की सहायता से परमाणु हमारे नयनगोचर नहीं हो सकता। जो पदार्थ चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होते हैं वे अनन्त परमाणुओं के पिण्डीभूत स्कन्ध हैं। वैज्ञानिक जिसे परमाणु कहेंगे, जैन दार्शनिक उसमें अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का सद्भाव बतायेंगे। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण विकृति का नाश करने वाले सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्य ज्ञान ज्योति से प्रकाशित तत्त्वों का उन्हें बोध प्राप्त हुआ है। इसीलिए वैज्ञानिकों ने जो पहिले लगभग सात दर्जन से भी अधिक मूल तत्त्व (Elements) माने थे और अब जिनकी संख्या बहुत कम हो गयी है, उनके विषय में जैनाचार्यों ने कहा है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले अनेक तत्त्व

प्रिये! लोकान्तर गता हि। सीता—णेदु मं अत्तणो अंगेसु निलअं अम्बा। ण सक्कम्हि इन्दिस जीअलोअपरिवत्तं अणुभविदुं।"

सप्तमांक पृ० १८८, १८७।

नहीं है। एक पुद्गल तत्त्व है जिसने बड़े बड़े दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों को भूलभुलैया में फँसा अनेक मूल तत्व के मानने को प्रेरित किया।

वैशेषिक दर्शन की नौ द्रव्य वाली मान्यता पर विचार किया जाय तो कहना होगा कि पृथ्वी, अप्, तेज, वायु नामक स्वतन्त्र तत्त्वों के स्थान पर एक पुद्गल का ही स्वीकार करने से काम बन जाता है, क्योंकि उनमें स्पर्शादि पुद्गल के गुण पाए जाते हैं। दिक् तत्व आकाश से भिन्न नहीं, आदि।

जीव तथा पुद्गल में क्रियाशीलता पायी जाती है। इनको स्थान से स्थानान्तर रूप क्रिया में सामान्य रूप से तथा उदासीन सहायक रूप में धर्म द्रव्य (Medium of Motion) नाम के माध्यम का अस्तित्व माना गया है। इसके विपरीत जीव और पुद्गल की स्थिति में साधारण सहायक माध्यम को अधर्म द्रव्य (Medium of Rest) कहा गया है। ये धर्म और अधर्म द्रव्य जैन दर्शन के विशिष्ट तत्व हैं। जगत् प्रख्यात सत्कर्म, असत्कर्म, पुण्य-पाप अथवा सदाचार दुराचार को सूचित करने वाले धर्म अधर्म से ये दोनों द्रव्य पूर्णतया पृथक् हैं। ये गमन अथवा स्थिति कार्य में प्रेरणा नहीं करते, उदासीनता पूर्वक सहायता देते हैं। मछलियों को जल में विचरण करने में सरोवर का पानी सहायक है, बलपूर्वक प्रेरणा नहीं करता। श्रान्त पथिकों को अपनी छाया में विश्रामनिमित्त वृक्ष सहायता करते हैं प्रेरणा नहीं। इसी प्रकार धर्म अधर्म नामक द्रव्यों का स्वभाव है और यही उनका कार्य है।

जीव आदि में नवीन से प्राचीन बनने रूप परिवर्तन का माध्यम 'काल (Time) नाम का द्रव्य स्वीकार किया गया है। सम्पूर्ण जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल को अवकाश स्थान देने (Locali se) वाला आकाश द्रव्य (Space) माना गया है। धर्म अधर्म, आकाश ये अखण्ड द्रव्य हैं। जीव अनन्त हैं। पुद्ग

द्रव्य, अनन्तानन्त हैं। काल द्रव्य असंख्यात अणुरूप है। काल को छोड़ जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश सत्तायुक्त होकर बहुत प्रदेश वाले हैं, इसलिए इन्हें अस्तिकाय कहते हैं। काल द्रव्य को अस्तिकाय नहीं कहा है क्योंकि वह परस्पर असम्बद्ध पृथक-पृथक् परमाणुरूप है। धर्म, अधर्म और आकाश तथा काल में एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन रूप क्रिया का अभाव है इसलिए इन्हें निष्क्रिय कहा है। आकाश के जिस मर्यादित क्षेत्र में जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं, उसे 'लोकाकाश' कहते हैं और शेष आकाश को 'अलोकाकाश' कहते हैं। एक परमाणु द्वारा घेरे गये आकाश के अंश को प्रदेश कहते हैं। इस दृष्टि से नाप करने पर धर्म, अधर्म तथा एक जीव में असंख्यात प्रदेश पाये गये हैं। जीव का छोटे-से छोटा शरीर लोक के असंख्यातवें भाग विस्तार वाला रहता है। जैसे दीपक की ज्योति छोटे-बड़े क्षेत्र को प्रकाशित करती है अर्थात् जो ढका हुआ दीपक एक घड़े को आलोकित करता है, वही दीपक आवरण के दूर होने पर विशाल कमरे को भी प्रकाशयुक्त करता है। इसी प्रकार अपनी संकोच विस्तार शक्ति के कारण यह जीव चिउंटी जैसे छोटे और गज जैसे विशाल शरीर को धारण कर उनमें संकुचित और विस्तृत होता है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव में भी आती है कि छोटे बड़े शरीर में पूर्णरूप से आत्मा का सद्भाव रहता है। अतः यह दार्शनिक मान्यता कि—या तो जीव को परमाणु के समान अत्यन्त अल्प विस्तार वाला अथवा आकाश के समान महत परिमाण वाला स्वीकार करना चाहिए अनुभव और युक्ति के प्रतिकूल है। उन लोगों की ऐसी धारणा है कि आत्मा को यदि अणु और महत्-परिमाण वाला न माना गया तो वह अविनाशीपने की विशेषता से रहित हो जाएगा।

इस विचार धारा की आलोचना करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा कि अणु या महत् परिमाण वाला पदार्थ ही नित्य हो, अविनाशी हो और मध्यम परिमाण वाले पदार्थ विनाशशील हों ऐसा कोई परिमाण-

कृत नित्यानित्यत्व का नियम नहीं पाया जाता। जब एकान्त नित्य अथवा अनित्य स्वरूप वस्तु ही नहीं है तब अनित्यता की आपत्तिवश अनुभव में आने वाला आत्मा की मध्यम परिमाणता को भुलाकर प्रतीति और अनुभव विरुद्ध आत्मा को अणुपरिमाण या महत्परिमाण वाला मानना तर्कसंगत नहीं है। ऐसा कोई अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है कि मध्यम परिमाण वाला अनित्य हो और अन्य परिमाण वाला नित्य। अतः तत्वार्थसूत्रकार ने ठीक लिखा है कि—प्रदीप के समान प्रदेशों के संकोच विस्तार के द्वारा लोकाकाश के हीनाधिक प्रदेशों को व्याप्त करता है।

जैन दार्शनिकों के द्वारा वर्णित इस जगत् में जीव, पुद्गल, आकाश, काल नामक द्रव्यों की मान्यता के विषय में अनेक दार्शनिकों की सहमति प्राप्त होती है। किन्तु धर्म और अधर्म नामक द्रव्यों का सद्भाव जैनदर्शन की विशिष्ट मान्यता है और जिसे माने बिना दार्शनिक चिंतना परिपूर्ण नहीं कही जा सकती। गम्भीर विचार करने पर विदित होगा कि जिस प्रकार अपने स्थान पर रहते हुए पदार्थ में नवीनता प्राचीनता रूपी चक्र का कारण काल नामक द्रव्य माना है और सम्पूर्ण द्रव्यों की अवस्थिति के लिए अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य स्वीकार किया है, उसी प्रकार क्षेत्र से क्षेत्रान्तर जाने में सहायक तथा स्थिति में सहायक धर्म अधर्म नामक द्रव्यों का अस्तित्व स्वीकार करना तर्कसंगत है।

ये जीवादि छह द्रव्य कभी कम होकर पाँच नहीं होते और न बढ़कर सात होते हैं। जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करती हैं, विलीन भी होती हैं, फिर भी जल की अपार राशि वाला समुद्र विनष्ट नहीं होता, उसी प्रकार परिवर्तन की भँवर में समस्त द्रव्य व्याप्त होते हुए भी अपने अपने अस्तित्व को नहीं छोड़ते। इस द्रव्य समुदाय में से अपने आत्मतत्व को प्राप्त करने का ध्येय, प्रयत्न तथा साधना मुमुक्षु मानव की रहा करती है। विश्व का वास्तविक रूप समझने और विचार करने से यह आत्मा भ्रम से बचकर कल्याण की ओर प्रगति करता है।

अहिंसा

पुण्य-जीवन को यदि भव्य भवन कहा जाए तो अहिंसा तत्त्वज्ञान को उसकी नींव मानना होगा। अहिंसात्मक वृत्ति के बिना न व्यष्टिका कल्याण है और न समष्टिका। साधना का प्राण अथवा जीवन-रस अहिंसा है। आज भारतीय राष्ट्र में अहिंसा की आवाज़ खूब सुनाई पड़ती है। देश ने पराधीनता के पाश से छूटने के लिए अपनी किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में अहिंसात्मक पद्धति को एक मात्र अवलम्बन माना था और इसीलिए रक्तपात के बिना राष्ट्र ने प्रगति के पथ पर द्रुतगति से अपना कदम बढ़ाया और स्वाधीन भी हो गया। फ्रांस के विश्व-विख्यात विद्वान् रोम्यां रोलां की पुस्तक में इस अहिंसा के विषय में बहुत उपयोगी तथा प्रबोधप्रद बात आई है[१]।

जिन संतों ने हिंसा के मध्य अहिंसा सिद्धान्त की खोज की, वे न्यूटन से अधिक बुद्धिमान थे तथा विलिंगटन से बड़े योद्धा थे। जिस प्रकार हिंसा पशुओं का धर्म है उसी प्रकार अहिंसा मनुष्यों का धर्म है।[२] अपनी महत्त्वपूर्ण रचना 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' (पृ० ६१३) में डा० बेनीप्रसाद ने लिखा है 'सबसे ऊंचा आदर्श जिसकी कल्पना मानव मस्तिष्क कर सकता है, अहिंसा है। अहिंसा के

---

१ The Rishis who discovered the Law of Nonviolence in the midst of violence were greater geniuses than Newton greater warriors than Wellington Nonviolence is the law of our species as violence is the law of the brute

२ Mahatma Gandhi dy Roman Rolland P 48

सिद्धान्त का जितना व्यवहार किया जायगा, उतनी ही मात्रा सुख और शान्ति की विश्व-मण्डल में होगी।" उनका यह भी कथन है कि "यदि मनुष्य अपने जीवन का विश्लेषण करे, तो इस परिणाम पर पहुँचेगा कि सुख और शान्ति के लिये आंतरिक सामञ्जस्य की आवश्यकता है।" यह अन्तःकरण की स्थिति तब ही उत्पन्न होती है जब यह जीव सब प्राणियों के प्रति प्रेम और अहिंसा का व्यवहार करता है। जहाँ अहिंसा समत्व के सूर्य को जगाती है, वहां हिंसा अथवा क्रूरता विषमता की गहरी अँधियारी को उत्पन्न करती है जहाँ यह अन्य जीवों की हत्या के साथ अपनी उज्ज्वल मनोवृत्ति का भी संहार करता है।

संसार के धर्मों का यदि कोई गणितज्ञ महत्तम-समापवर्तक निकाले तो उसे अहिंसा धर्म ही सर्वमान्य सिद्धान्त प्राप्त होगा। इस तत्त्वज्ञान पर जैन श्रमणों ने जितना वैज्ञानिक और तर्क संगत प्रकाश डाला है, उतना अन्यत्र दर्शन में नहीं आता। यह कहना सत्य की मर्यादा के भीतर है कि जैनियों ने इतिहासातीत काल से लेकर अहिंसा तत्त्वज्ञान का शुद्ध रीति से संरक्षण किया है। एक समय था, जब वैदिक युग में स्वर्ग प्राप्ति के लिए लोगों को स्वार्थी विप्रवर्ग पशुओं की बलि करने का मार्ग बताता था। इससे स्वार्थी व्यक्तियों ने मिथ्यात्व वश अपना भविष्य उज्ज्वल मान अगणित पशुओं का संहार किया। वैदिक साहित्यके शास्त्रोंमें हिंसात्मक-यज्ञ की पुष्टि में विपुल सामग्री मिलती है उस आध्यात्मिक ज्योति विहीन जगत में अपने ज्ञान, शिक्षण और सेवा द्वारा जैनधर्म ने अहिंसा धर्म की पुनः प्रतिष्ठा कराई।

इस प्रसंग में हिन्दू समाज के विवेकी धर्माचार्य महर्षि शिवव्रतलाल वर्मन् का यह कथन विशेष ध्यान देने योग्य एवं चिन्तनीय प्रतीत होता है, 'जहां तक हिंदू जाति के सद्ग्रंथों का सम्बन्ध है यह प्राचीन समय से मांस भक्षण करने वाले पाये जाते हैं। इनके यहाँ नरमेध, अश्वमेध, गोमेध आदि यज्ञ करने की प्रथा जारी थी जिनसे इनके ग्रंथ भरे पड़े

है। यहां तक कि रामायण, महाभारत और स्मृतियों तक में कहीं इसका निषेध नहीं पाया जाता। हिन्दू नरमांस भक्षक थे या नहीं? इस पर सम्मति प्रगट करना कठिन काम है। फिर भी अब तक हिंदुओं में ऐसे लोग पाये जाते हैं जिनमें इनके गौरव का गीत गाया जाता है। उदाहरण की रीति से अघोर पंथ और शाक्तिक मत के वाम मार्ग की ओर दृष्टि डालो। शाक्तिक धर्म में नर मांस महाप्रसाद कहलाता है। और अघोरी तो अब तक जलती हुई श्मशानों के इर्द गिर्द चक्कर लगाते रहते हैं कि कहीं कच्चा या पक्का नरमांस उनके हाथ आ जाय। वाल्मीकि रामायण में एक जगह वर्णन किया गया है कि जब भरत जी रामचन्द्र जी का खोज में चित्रकूट जाने लगे तो उनके भोजन के लिये भारद्वाज ऋषि ने बछड़ा जिबह किया था। अब गोमांस का निषेध है। परन्तु हिन्दुओं में कोई जाति ऐसी न मिलेगी जो मांसाहारी न हो और न किसी वर्ण के पुरुष इसके विरोधी हैं। जैनियों की अवस्था इसके विरुद्ध है और शायद सारी दुनिया में जैन ही एक ऐसा सम्प्रदाय है जो हर प्रकार के मांस को निषेद्ध समझता है[१]।"

प्रोफेसर आयगर ने लिखा है, '[२]अहिंसा के पुण्य सिद्धांत ने वैदिक हिन्दू धर्म की क्रियाओं पर प्रभाव डाला है। यह जैनियों के उपदेशों का प्रभाव है जिससे ब्राह्मणों ने पशुबलि को पूर्णतया बन्द कर दिया था तथा यज्ञों के लिए सजीव प्राणियों के स्थान में आटे के पशु बनाकर कार्य करना प्रारम्भ किया।'

---

१ अनेकांत १९४३ नवम्बर (पृ० १३१)

२ The noble principle of Ahimsa has influenced the Hindu Vedic rites As a result of Jain preachings animal Sacrifices were completely stopped by the Brahmans and images of beasts made of flour were substituted for the real and veritable ones required in conducting yagas (Prof M S Ramswami Ayangar M A)

लोकमान्य तिलक ने यह स्पष्टतया लिखा है—"अहिंसा परमो धम इस उदार सिद्धांत ने ब्राह्मण धम पर चिरस्मरणीय छाप मारी है। पूव काल में यज्ञ के लिए असख्य पशु हिंसा होती थी। इसके प्रमाण 'मेघदूत काव्य' आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैन धर्म के हिस्से में है।"

मेघदूत (श्लो० ४५) में कवि कालिदास अपने मेघ से कहते हैं कि "उन्नयना से आगे बढ़ते समय चर्मण्वती नामकी नदी का दर्शन होगा। वह रन्तिदेव नामक नरेश द्वारा गो-वधयुक्त अतिथियज्ञ सम्बन्धी चर्म के जल से युक्त होने के कारण चर्मण्वती कहलाती है। उसे गो बलि के कारण पूज्य मानते हुए तुम वहां कुछ समय ठहरना।'

भवभूति ने उत्तर रामचरित के चौथे अक में वाल्मीकि आश्रम में सौधातकी और भाण्डायन दो शिष्यों का वार्तालाप वर्णित किया है। वसिष्ठ ऋषि को देख सौधातकी पूछता है—'भाण्डायन, आज वृद्ध माधुर्या म प्रमुख चीरधारी कौन अतिथि आए हैं ?" भाण्डायन उनका नाम वसिष्ठ बताता है। यह सुन सौधातकी कहता है—"मये उण जाणिदं, वग्घो वा विग्गो वा एसो त्ति"—मैं तो समझता था कि कोई व्याघ्र अथवा भेड़िया आया है। इसका कारण वह कहता है—"तेण परावडिदेणज्जेव सा वराइया कलोडिया मम्मडाइदा,—जैसे ही व आये उन्होंने एक दीन गाय को स्वाहा कर दिया। इस पर भाण्डायन कहता है कि धमसूत्र में कहा है कि मधु और दधि के साथ मांस का मिश्रण चाहिये, इसलिए श्रोत्रिय गृहस्थ ब्राह्मण अतिथि के भक्षण के लिए गाय, बैल अथवा बकरा देवे।

इस प्रसग में इतना उल्लेख और आवश्यक है कि जहाँ वाल्मीकि के आश्रम में वसिष्ठ के लिए गौ-मांस खिलाने का वर्णन है, वहाँ राजर्षि जनक को मांस-रहित मधुपर्क का उल्लेख है। इसीलिए भाण्डायन कहता है—'निवृत्त मांसस्तु तत्रभवान् जनक' (पृ० १०५ ७)।

महर्षि वशिष्ठ की जो मांस भक्षण की उक्त बात उतनी आश्चर्यप्रद नहीं लगती, जितनी कि ऐसे कृत्यों में परम कारुणिक विश्व पिता परमात्मा का हस्तावलम्बन देने की बात। श्री विनोबा भावे सदृश वैदिक शास्त्रज्ञ अपने गीता प्रवचन (पृ १४२, अध्याय १३) में लिखते हैं, "भक्त की सहायता करनेवाला वह भगवान् रैदास के चमड़े धोता है, सजन कसाई का मांस बेचता है कबीर की चादर बुनता है व जनाबाई के साथ चक्की पीसता है।" जहां भगवान ही मांस विक्रय में हाथ बटाता हो, वहां गोमेध, नरमेध आदि यज्ञों की प्रवृत्तियों का मनों में प्रचार कौन रोक सकता है? ऐसी स्थितिमें एक विवेक का प्रदीप ही मानव को सत्पथ बता सकता है। लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य (पृ ३१) में महाभारत के शांतिपर्व १४१ की यह कथा दी गई है, कि "किसी समय १२ वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा और विश्वामित्र पर बहुत बड़ी आपत्ति आई, तब उन्होंने किसी चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजन से अपनी रक्षा करने के लिए प्रवृत्त हुए।"

एक बार सन् १९३४ में हमने महात्मा गांधी से चर्चा में वैदिक अहिंसा की चर्चा करते हुए मनुस्मृति का वाक्य कहा था "वर्जयेत् मधु मांसं च", तब उनने कहा था "आप वैदिक ग्रन्थों के अहिंसा के बारे में क्या प्रमाण पेश करते हैं? उनमें नरमेध गोमेध सदृश यज्ञों के नाम पर भयंकर हिंसाका समर्थन पाया जाता है।"[१]

---

१ गौतमधर्मसूत्र से मानव रूपधारी दीन शूद्रों के प्रति कल्पनातीत निष्ठुर व्यवहार का वर्णन विदित होता है। वेदध्वनि शूद्र तक पहुंच जाने पर उसके कानों में सीसा और लाख भर दिए जाते हैं। वेदोच्चारण करने पर उसकी जीभ काट ली जाती है। वेद मंत्र पाठ करने पर उसके शरीर के दो टुकड़े कर दिए जाते हैं। गौतमधर्मसूत्र १२, ४–६

ऐसी स्थिति में यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर (पृ १८१–१८६) में वैदिक पंडित प्रा हन्दिकी, आसाम का जैन ग्रन्थकार सोमदेव जिनसेन आदि पर यह दोष देना कि उनने दुर्भावना पूर्वक वैदिक साहित्य में गोमेध, नरमेध आदि का मिथ्या सद्भाव बताया है, सत्य के प्रकाश अपरमार्थ प्रमाणित होता है।

वैदिक वाङ्मयका तुलनात्मक दृष्टिसे परिशीलन करनेपर विदित होता है, कि पुरातन भारतमें हिंसा और अहिंसाकी दो विचार धाराएँ शुक्लपक्ष कृष्णपक्षके समान विद्यमान थीं। प्रो०, ए० चक्रवर्ती एम ए मद्रास तो इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि 'अहिंसात्मक विचार धारा उत्तर काल' जैन कहे जानेवालों द्वारा प्रवर्तित अनुप्राणित एवं समर्थित थी। ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्यमें विन्दह और मगध में जहां क्षत्रिय नरेशोंका प्राधान्य था अहिंसात्मक यज्ञका प्रचार था। ये लोग एक विशेष भाषाका उपयोग करते थे जिसमें 'न' को 'ण' उच्चारित किया जाता था, जो स्पष्टतः प्राकृत भाषाके प्रभाव या प्रचारको सूचित करता है। पहिले तो कुरु पांचाल देश विप्रगण मगध और विदेह भूमिवालोंको अहिंसात्मक यज्ञके कारण हीन समझ उन प्रदेशोंको निषिद्धभूमि सा प्रचारित करते थे, किन्तु पश्चात् जनकके नेतृत्वमें अहिंसा और अध्यात्मविद्याका प्रभाव बढ़ा और इसलिए अपनेको अधिक शुद्ध मानने वाले कुरु पांचाल देशीय विद्वज्जन आत्म विद्याकी शिक्षा दीक्षा निमित्त विदेह आदिकी ओर ध्यान लगे।

बुद्धकालीन भारतमें भी इसी प्रकारकी कुछ प्रवृत्ति दिखाई देती है। जहाँ महावग्ग में गौतम बुद्ध धर्मोपदेश देते हुए कहते हैं–इरादा पूर्वक भिक्षुको किसी भी प्राणी–कीड़ा अथवा चींटी तककी हिंसा नहीं करनी चाहिए, वहां 'विनयपिटक' में बुद्ध यह उपदेश देते हुए पाये जाते हैं–"भिक्षुओ, मैं कहता हूँ कि मछली तीन अवस्थाओंमें ग्राह्य है पहिले यदि तुम उसे इस रूपमें न देखो, दूसरे यदि तुम उसे इस रूपमें न सुनो और तीसरे तुम्हारे चित्तमें इस प्रकारका सन्देह ही उत्पन्न न हो।

यह तुम्हारे लिए ही पकाई गई है।"[1] महावग्ग में लिखा है कि[2]– 'नव दीक्षित एक मन्त्री ने बारह सौ पचास भिक्षुओं सहित बुद्ध को आमन्त्रित किया और मांस परोसा। सबने बुद्ध सहित उसे खाया।' सुत्त निपात में प्राणियों की हत्या को दोषपूर्ण बताते हुए मांस भक्षण को पाप नहीं कहा है। बुद्धदर्शन क्षणिकवाद का प्रतिपादन करता है अतः अपने कर्मों के फल का भोक्ता एक ही जीव नहीं रहता है। कर्ता जीव तो नष्ट हो गया, कर्मफल का भोक्ता जीव दूसरा ही है। प्रतीत होता है इस दृष्टि से बुद्ध जगत में मांसाहार की अमर्यादित वृद्धि की है। सन् १९४९ के दिसम्बर में हमारे अनुज प्रो॰ सुशील दिवाकर लंका गए थे। वहां की भूमि को मांसाहार प्रचुर देख उन्हें आश्चर्य हुआ कि विश्व में अहिंसा विद्या के लिए विख्यात बुद्धधर्म के आराधकों के केन्द्र स्थल में ऐसी निरंकुश मांस भक्षण में प्रवृत्ति है। चीन जापान की कथा तो निराली ही है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपनी "कैलाश यात्रा" पुस्तक में बौद्धसाधु लामाओं की हिंसापूर्ण वृत्ति का बड़ा दर्दनाक वर्णन लिखा है। मानसरोवर के निकटवर्ती दर्चा के मंदिर में उन्हें निर्दयी क्रूरता की भयंकर व्यवस्था मालूम हुई। लामाओं ने एक बकरे को पकड़कर उसका मुंह और नाक कसकर बांध दिया। दम घुटने से पशु छटपटाने लगा। बिचारे ने तड़प तड़पकर प्राण दिए। अपनी इस क्रूरता का कारण इन्होंने यह बताया कि बौद्धधर्म के अनुसार

---

[1] I prescribe O Bhikkus that fish to you in three cases if you do not see if you have not heard if you do not suspect (that it has been caught specially to be given to you) The Vinaya Text XVII p 117

[2] Newly converted minister invited Buddha with 1250 Bhikkus and gave meat too Samgha with Buddha ate it" Mahavagga, VI-25 2

ऐसी स्थिति में यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर (पृ ३८४—३८६) में वैदिक पंडित प्रो हण्डिकी, आसाम का जैन ग्रन्थकार रविषेण, जिनसेन आदि पर यह दोष देना कि उनने दुर्भावना पूर्वक वैदिक साहित्य में गोमेध, नरमेध आदि का मिथ्या सद्भाव बताया है, सत्य से प्रकाशमें अपराध प्रमाणित होता है।

वैदिक वाङ्मयका तुलनात्मक दृष्टिसे परिशीलन करनेपर विदित होता है, कि पुरातन भारतमें हिंसा और अहिंसाकी दो विचार धाराएँ शुक्लपक्ष कृष्णपक्षके समान विद्यमान थीं। प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ए० मद्रास तो इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि 'अहिंसाकी विचार धारा उत्तर कालमें जैन कहे जानेवालों द्वारा प्रवर्तित, अनुप्राणित एवं समर्थित थी। ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्यमें विदेह और मगध में जहां क्षत्रिय नरेशोंका प्राबल्य था अहिंसात्मक धर्मका प्रचार था। वे लोग एक विशेष भाषाका उपयोग करते थे जिसमें 'र' को 'ल' उच्चारित किया जाता था, जो स्पष्टतः प्राकृत भाषाके प्रभाव या प्रचारको सूचित करता है। पहिले तो कुरु पाचाल देशके विप्रगण मगध और विदेह भूमिवालोंको अहिंसात्मक धर्मके कारण तुच्छ समझ उन प्रदेशोंको निषिद्धभूमि सा प्रचारित करते थे, किन्तु पश्चात् जनकके नेतृत्वमें अहिंसा और अध्यात्मविद्याका प्रभाव बढ़ा और इसलिए अपनेको अधिक शुद्ध मानने वाले कुरु पाचाल देशीय विद्वज्जन आत्म विद्याकी शिक्षा दीक्षा निमित्त विदेह आदिकी ओर ध्यान लगे।

बुद्धकालीन भारतमें भी इसी प्रकारकी कुछ प्रवृत्ति दिखाई देती है। जहाँ 'महावग्ग' में गौतम बुद्ध धर्मोपदेश देते हुए कहते हैं—इरादा पूर्वक भिक्षुको किसी भी प्राणी—कीड़ा अथवा चींटी तककी हिंसा नहीं करनी चाहिए, वहां 'विनयपिटक' में बुद्ध यह उपदेश देते हुए पाए जाते हैं—"भिक्षुओ, मैं कहता हूँ कि मछली तीन अवस्थामें ग्राह्य है। पहिले यदि तुम उसे इस रूपमें न देखो, दूसरे यदि तुम उसे इस रूपमें न सुनो और तीसरे तुम्हारे चित्तमें इस प्रकारका सन्देह ही उत्पन्न न हो कि

यह तुम्हारे लिए ही पकड़ी गई है।"[1] महावग्ग में लिखा है कि[2]– 'नव दीक्षित एक मन्त्रीने बारह सौ पचास भिक्षुओं सहित बुद्धको आमंत्रित किया और मांस परोसा। संघने बुद्ध सहित उसे खाया।"[1] सुत्त निपात में प्राणियों की हत्याको दोषपूर्ण बताते हुए मांस भक्षणका पाप नहीं कहा है। बुद्धदर्शन क्षणिकवाद का प्रतिपादन करता है अतः अपने कर्मों के फल का भोक्ता एक ही जीव नहीं रहता है। कर्ता जीव तो नष्ट हो गया, कर्मफल का भोक्ता जीव दूसरा ही है। प्रतीत होता है इस दृष्टिने बुद्ध जगत में मांसाहार की अमर्यादित वृद्धि की है। सन् १९२४ के दिसम्बर में हमारे अनुज प्रो॰ सुशील दिवाकर लंका गए थे। वहां की भूमि को मांसाहार प्रचुर देख उन्हें आश्चर्य हुआ कि विश्वमें अहिंसा विद्या के लिए विख्यात बुद्धधर्म के आराधकों के केन्द्र स्थल में ऐसी निरंकुश मांस भक्षण में प्रवृत्ति है। चीन जापान की कथा तो निराली ही है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपनी "कैलास यात्रा" पुस्तक में बौद्धसाधु लामाओं की हिंसापूर्ण वृत्ति का बड़ा दर्दनाक वर्णन लिखा है। मानसरोवर के निकटवर्ती देचान के मंदिर में उन्हें[2] तिब्बती क्रूरता की भयंकर व्यवस्था मालूम हुई। लामाओं ने एक बकरे को पकड़कर उसका मुंह और नाक बन्द कर बांध दिया। दम घुटने से पशु छटपटाने लगा। बेचारे ने तड़फ तड़फकर प्राण दिए। उन्होंने इस क्रूरता का कारण इनने यह बताया कि बौद्धधर्म के अनुसार

---

1 I prescribe O Bhikkus that fish to you in three cases if you do not see if you have not heard if you do not suspect (that it has been caught specially to be given to you) The Vinaya Text XVII p 117

2 Newly converted minister invited Buddha with 1250 Bhikkus and gave meat too Samgha with Buddha ate it Mahavagga VI 25 2

लामाओं को जीवहिंसा का निषेध है, इसलिए उस नियम की रक्षा हित पशुको शस्त्रसे नहीं मारते। केवल दम बंद कर देते हैं। यह फिलासफी इन लामाओं की है।" (पृष्ठ १०२ ३)

विनयपिटक में लिखा है कि सिंह नामक सेनापति ने एक पुष्ट बैल को मारकर गौतम बुद्ध को उसका मांस खिलाया। इसे जानते हुए श्रमण गौतम ने उसे खाया (S I P Vol XVII P 116)

"पावामें चंदो लुहारने बुद्धको मीठा चावल, मीठी रोटियां तथा कुछ सूखा सुअरका मांस खिलाया बुद्धने उस भोजनको खा लिया, तभीसे उसे अतीसारका हो गया था।" (बुद्ध और बौद्धधर्म, पृष्ठ २२)

ईसाई जगत्‌ का मांसभक्षणादिके विषयमें प्रवृत्ति विश्व से छुपी नहीं है। बाइबिलमें हजरत मसीहने जहां अपने शैल प्रवचनमें (Sermon on Mount) 'Thou shalt not kill'—'तू प्राणिहत्या मत कर' इस बातकी सुखद शिक्षा दी है, वहीं बाइबिलमें ईसामसीहको सारे गांवको मछली खिलाते हुए पाते हैं।[1] अंग्रेजी साहित्यके किसी भी उपन्यासको हाथमें लो, तो उसमें मांस और मदिरा सेवनका पद पद

---

[1] He (Jesus) said unto them (people) Give ye them to eat And they said We have no more but five loaves and two fishes except we should go and buy meat for all these people For they were about five thousand men And he said to his disciples, make them sit down by fifties in a company And they did so and made them all sit down Then he took the five loaves and the two fishes and looking up to heaven he blessed them and broke and gave to the disciples to eat before the multitude And they did eat and were all filled and there was taken up a fragment that remained to them twelve baskets St Luke s Gospal Chapter 9 .. XX 13 18

पर उपलब्ध प्राप्त होता है। भारतीय जीवन की ताल रागों का स्थान यहां मद्य मांसादि ने ले लिया है।

डा० कालिदास नागने ईसाई, बौद्ध, मुसलिम से प्राप्त शास्त्र की दुनिया के प्रदेशों का पर्यटन करने के उपरान्त विश्वभारती मिशन के अधिवेशन में कहा था मैं दुनिया भर में घूमा हूँ। मुझे हिन्दुस्तान के अतिरिक्त अहिंसा का नाम सुनने को कहीं नहीं मिला। मैं आज विश्वकी अल्पसंख्यक जैनसमाज के समक्ष बोल रहा हूँ। आज का युग अहिंसा लगाई नापना चाहता है लेकिन मैं कहता हूँ कि सत्य सर्वत्र अल्पमत में रहता है। डा० महोदय ने कहा अहिंसा ही सबसे बड़ी सेवा है। इसके अनुयायी होने से ही विश्व में सुख शांति स्थापित हो सकती है (अहिंसा वाणी १९५२, मई)

यहां इतना अवश्य लिखना यथोचित है कि विश्व के प्राय सभी धर्मों में अहिंसा के प्रति पवित्र उद्गारों का अस्तित्व पाया जाता है। किन्तु गंगा यमुनाकी धवल एवं श्याम वर्णा धाराओं के समान कहीं दया की मंदाकिनी प्रवाहित होती हुई मिलती है, तो कहीं अन्यप्रकार का प्रवाह भी दिखता है। जिस प्रकार मेघ घटा के घिर जाने पर यद्यपि प्रतापपूर्ण सूर्य का परिपूर्ण दर्शन असम्भवसा हो जाता है किन्तु मेघों के मध्यसे प्रकाश की कुछ किरणें दिनके सद्भाव का सूचित करती है, उसी प्रकार मोह तथा कषाय की घटाएँ आक्रान्त अत कारणमें पूर्ण अहिंसात्मक सूर्य अपना प्रताप और प्रकाश नहीं पहुँचा पाता है फिर भी कहीं २ कभी २ उस दिव्यप्रकाशक प्रभाकर के सद्भाव के सूचक कथन अन्योंमें तथा किन्हीं सत्पुरुषों के जीवन में प्राप्त होते हैं। इसका कारण क्या है ? तुलनात्मक शैली से विश्व के साहित्य का मनन करने से ज्ञान होता है कि जैन मुनियों ने देश विदेशमें विहारकर अहिंसा तत्वज्ञान की प्रतिष्ठा लोगोंके मनोमंदिरमें अंकित की थी। इसीकारण भारत के बाहर ईजिप्त, पैलिस्टाइन आदि देशोंमें मांसाहार तथा सुरापानके त्यागी सत्पुरुषों का

उल्लेख इतिहास में पाया जाता है। ईसामसीह के गुरु जान-बेप्टिस्ट शाकाहारी थे। पाइथोगोरस भी दयामूर्ती थे। आज भी मांसाहारीवर्ग में अनेक पुरुषों ने नीवरता को अपनाया है।

आज अहिंसा का उच्च स्वरमें जयघोष खूब सुनाई पड़ता है। किन्तु ऐसे कम लोग हैं जो अहिंसाका मर्म वास्तविक रूपमें जानते हैं। विरोधी पर शस्त्र प्रहारमात्र छोड़ मनमानी विषैली वाणीका प्रयोग करना मद्य, मांस मधु आदि पदार्थोंका सेवन करना परयासेवन, शिकार खेलना आदि कार्य करते हुए भी श्रेष्ठ अहिंसकका सदरा लिसमें वाचनवालोंकी भी गाज कमी नहीं है। जब अहिंसातत्त्व-ज्ञानका सर्वांगीण वर्णन और परिपालन जैन संस्कृति के ध्वजक सदा हुआ है, तब जैनदृष्टि से इस विषय पर प्रकाश डालना आवश्यक तथा उपयोगी होगा। विश्वभारती चीनीभवन के डायरेक्टर प्राफेसर तानयुनशान ने गंभीर अध्ययन के उपरान्त यह मन्तिव्य निकाला कि अहिंसा का पवित्र उपदेश गंभीरता तथा व्यवस्था पूर्वक जैन तीर्थंकरों के द्वारा दिया गया है और विशेष रूप से उपदिष्ट किया गया है। उनमें चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर मुख्य हैं। ※

भारतमें अहिंसाका हिंसाके निषेध रूप निवृत्ति परक अर्थ किया जाता है और चीन देशमें उसका विधि रूप (Positive) अर्थ प्रेम अथवा मैत्री किया जाता है। इसको चीनी भाषामें जैन (Jen) कहते हैं। निषेधात्मक अहिंसाको 'पु हई ' (Pu HAI) कहते हैं। अहिंसा जैनधर्म और जैन जीवनका प्राण है। उसका पर्यायवाची शब्द

※ The Gospel of Ahinsa was first deeply and systematically expounded and properly and specially preached by the Jain Tirthankaras most prominently by the 24th Tirthankara the last one Mahavir Vardhamana Vide— A B Patrika of 31 Oct 1949 p 7 8

चीनी भाषामें 'जैन' या 'जिन' होना भाषाशास्त्रियोंके लिए विशेष चिन्तनीय प्रतीत होता है।

सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर यह कथन संगत होगा, कि जैनदृष्टिमें अहिंसा का निषेधपरक अर्थ के सिवाय विधिरूप भी निरूपण पाया जाता है। सभी प्राणियों में मैत्री भाव रखना, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भावना धारण करना, दुःखी जीवों के प्रति कारुण्य वृत्ति रखना तथा विपरीत परिणतिवालों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना इस प्रकार उस अहिंसा का विधि (Positive) रूपमें कथन किया गया है। कल्याणमें जैन धर्मका सम्बन्ध दूरकर निष्पक्ष विद्वान् नहीं भी विमल प्रमके गया या उसका शासका दमन है, वहां से जैन प्रभाव को उत्थापित किए बिना नहीं रहते हैं। ईसाके तीन चार सदी पूर्व तक्षशिलामें आयुर्वेदका शिक्षण उच्चकोटि था। वहां पशुओंकी श्रेष्ठ चिकित्सा का भी प्रबन्ध था। इसका कारण पं० जवाहरलाल नेहरू जैनधर्म और बौद्धधर्मका प्रभाव बताते हैं, जो अहिंसापर अधिक जोर देते हैं।[1]

अहिंसा की विचारधाराको एक विशिष्ट मर्यादा के भीतर प्रचारित करनेवाले गांधीजी पर, वैष्णव परिवारमें जन्म धारण करते हुए भी, जैनधर्मका विशेष प्रभाव था, कारण वे अपनी माताके प्रभावमें थे और उनकी मातापर जैन साधुका विशेष प्रभाव था, यह बात उनकी जीवन गाथापर प्रकाश डालनेवाले विदेशी लेखकोंने विशेष रूपमें प्रकट की है।[2]

---

[1] In the third or fourth century B C there were also hospitals for animals This was probably due to the influence of Jainism and Buddhism with their emphasis on non violence Discovery of India p 129

[2] M K Gandhi s mother was under Jain influence Although his mother was a Vaishnava Hindu she came much under the influence of a Jain monk after her husband s death — In the Path of Mahatma Gandhi p 202 by George Catlin

जायें वेटलिन तो गुजरात प्रान्त मात्रको जैनधर्मके प्रभावापन्न मानता हुआ उस वातावरणसे गांधीजीके जीवनको अनुप्राणित सा अनुभव करता है। बाह्य वातावरणका जीवनपर गहरा असर होता ही है। अहिंसाके उच्च समाराधक होनेके कारण ही सौराष्ट्र देशने भारतीय अहिंसात्मक संग्राममें महान् भाग बटाया था।[1] केटलिनका कथन है कि भारतमें मांसाहारके विरोधमें गुजरातका सबसे प्रमुख स्थान है, तथा जैन धर्मका वहां जितना प्रभाव है, उतना भारतके अन्य भागोंमें नहीं है। 'महात्मा गांधी' नामक अंग्रेजी पुस्तकमें श्री पोलकने गांधीजीकी जन्म भूमि गुजरातमें जैनधर्मके महान् प्रभावको स्वीकार किया है, जिससे गांधीजीके जीवनको असाधारण प्रकाश तथा बल प्राप्त हुआ।[2] विद्वान् लेखक टालस्टाय आदिके प्रभावको उतना महत्वपूर्ण नहीं मानता है। विलायत जाते समय गांधीजीने जैन संतसे मद्य, मांस तथा परस्त्री सेवन त्यागकी जो प्रतिज्ञा ली थी और जिसके प्रभावसे गांधीजीके जीवनमें अहिंसात्मक उज्ज्वल क्रान्तिका जागरण हुआ था, उसको ग्रासके विरव

---

1 No where in India there was stronger feeling against meat eating or more Jain influence than in Gujrat

2 Again it was reflection his experience of life and in some degree the influence of Tolstoy that brought him to his fundamental doctrine of Ahimsa He then went to the Hindu scriptures and to the folk poetry of Gujrat and rediscovered it there If I may give my view briefly and bluntly on this much disputed question I think Gandhi put his claim much too high Certainly Buddhists and Jains preached and practised Ahimsa and the Jains influence is still a vital force in his native Gujrat The first five of Gandhis vows were the code of Jain monks during two thousand years

Mahatma Gandhi by H S L Polak p 112

विख्यात लेखक रोम्यारोलां* the three vows of Jains-'जैनोंकी प्रतिमात्रयी कहते हैं।'[1]

जो लोग अहिंसाको अव्यवहार्य सोचते हैं, उनके परिज्ञानार्थ डा० तानयुन शान का कथन है 'मानवताका पूर्णतया विकास नहीं हो पाया है। इससे यह अव्यवहार्य भले ही प्रतीत हो, किन्तु जब मानवताका विशेष उन्नति होगी तथा वह उच्च स्तरपर पहुँचेगी, तब अहिंसा स्व विशेष ग्रत सबका धर्म होगा एवं सभी इसका पालन करेंगे।' "चीन एव भारतमें ... अहिंसाकी भूमिकापर अवस्थित व्यापक मधुर संस्कृतिका निर्माण करनेके पश्चात् हमें यह उचित होगा, कि हम उसी आदर्शके आधारपर व्यापक विश्व संस्कृतिका निर्माण करें। अत हमारा ध्येय ... परिशुद्ध अहिंसा के स्वरूपको हृदयंगम करना है।

अहिंसाका यथार्थ स्वरूप राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ, भीरुता, शोक, घृणा आदि विकृत भावोंका त्याग करना है। प्राणियोंके वियोग करने मात्रको हिंसा समझना अयुक्त है। तात्त्विक बात तो यह है कि यदि राग द्वेष, मोह, क्रोध अहंकार लोभ मात्सर्य आदि दुर्भाव विद्यमान हैं, तो अन्य प्राणीका घात न होते हुए भी हिंसा निश्चित है। यदि रागादि का अभाव है तो प्राणिघात होते हुए भी अहिंसा है। अमृतचन्द्र स्वामी—लिखते हैं—

रागादिकका अप्रादुर्भाव अहिंसा है, रागादिकोंकी उत्पत्ति हिंसा है। यह जिनागमका सार है।[2]

---

1 Before leaving India his mother made him take the three vows of Jains which prescribe abstention from wine meat and sexual intercourse —Mahatma Gandhi by Roman Rolland p 11

2 "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥"
—पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ४४।

तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी लिखते हैं—"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'। इस परिभाषामें 'प्रमत्तयोग' शब्द अधिक महत्वपूर्ण है। यदि रागद्वेष आदि हैं तो भले ही किसी जीवधारीके प्राणों का नाश न हो, किन्तु कषायवान व्यक्ति अपनी निर्मल मनोवृत्तिका घात करता है। इसलिए स्व प्राणघातरूप प्राणव्यपरोपण भी पाया जाता है। भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) में किसी व्यक्तिको प्राणघातका अपराधी स्वीकार करते समय उसमें घातक मनोवृत्ति (Mens rea) का सद्भाव प्रधानतया देखा जाता है। इसी कारण आत्मरक्षाके भावसे शस्त्रादि द्वारा अन्यका प्राणान्त करने पर भी व्यक्ति दण्डित नहीं होता। धार्मिक दृष्टिसे अहिंसाके विषयमें जैनाचार्योंने यही दृष्टि दी है। महर्षि कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें लिखते हैं—

"जीवका घात हो अथवा न हो, असावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले साधुके कदाचित् प्राण-घात होते हुए भी हिंसानिमित्तक बन्ध नहीं होता।"

पं० आशाधरजी तर्क द्वारा समझाते हैं—"यदि भावके अधीन बन्ध मोक्षकी व्यवस्था न मानी जाए तो संसारका वह कौन सा भाग होगा, जहां पहुँच मुमुक्षु पुरुष अहिंसक जीवनकी साधनाको पूर्ण करते हुए निर्वाण लाभ करता?"

अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायमें लिखते हैं—"परपदार्थके निमित्तसे मनुष्यको हिंसाका लेश मात्र भी दोष नहीं लगता, फिर भी हिंसाके आयतनों स्थानों (साधनों) की निवृत्ति परिणामोंकी निर्मलताके लिए करनी चाहिए।" इससे स्पष्ट होता है कि हिंसाका अन्वय व्यतिरेक अशुद्ध तथा शुद्ध परिणामोंके साथ है।

जैन ऋषि क्रोध मान माया लोभ, शोक, भय घृणा आदिको हिंसाके पर्यायवाची मानते हैं क्योंकि उनके द्वारा चैतन्यकी निर्मलवृत्ति

विकृत तथा मलीन होती है—जैनपुराणों में एक कथा है। एक दिगम्बर मुनिराज किसी धनकी गुफामें ध्यान मग्न थे। वहाँ एक वराह तथा व्याघ्र सहसा आ गए। व्याघ्र तरके सत्कारवश व्याघ्र के भाव मुनिराज के भक्षण करने के हुए तथा वन शूकरके परिणाम उनकी रक्षा के हुए। दुष्ट भावनासे प्रेरित शेर मानुरानको मारने का उद्यत हो रहा था, कि शूकरने व्याघ्र पर आक्रमण किया। दोनों का भीषण लड़ाई हुई। उसमें क्षत विक्षत होकर दोनों की मृत्यु हो गई। चर्मचक्षुओं की दृष्टि दोनों का कार्य समान था। लड़े दोनों, मरे भी दोनों ही किन्तु उनके भाव भिन्न भिन्न थे अतः उनका फल पृथक् पृथक् हुआ। वराह ने स्वर्गपद प्राप्त किया और पापी व्याघ्रने नरकों के दुःख भोगे। इससे स्पष्ट होता है कि हिंसा अहिंसा की व्याख्या मनोवृत्ति पर निर्भर है।

साधककी शक्तिके अनुसार अहिंसाका न्यूनाधिक उपदेश दिया गया है। अतः यह पूर्णतया व्यवहार्य है। एक खदिरसार नामक भील था। उसने केवल काकमासभक्षण न करनेका नियम ले उसका सफलताके साथ पालन कर उच्च पद प्राप्त किया था। यहाँ इतना जानना चाहिये कि जितने अंशमें भीलने हिंसाका त्याग किया है उतने अंशमें वह अहिंसक था, सर्वांशमें नहीं। परिस्थिति वातावरण और शक्तिको ध्यानमें रखते हुए महर्षियोंने अहिंसात्मक साधनाके लिए अनुज्ञा दी है। कहा भी है—'जितनी शक्ति हो उतना आचरण करो, जहां शक्ति न चले, श्रद्धा जागृत करो, कारण श्रद्धावान् प्राणी भी अजर अमर पद को प्राप्त करता है।

अहिंसाका भाव कर्तव्यपरायणता है। गृहस्थने मुनितुल्य श्रेष्ठ अहिंसा की आशा करनेपर भयंकर अव्यवस्था उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। इस युगकी सबसे पूज्य विभूति सम्राट् भरतके पिता आदि अवतार ऋषभ देव तीर्थंकरने जब महामुनिका पद स्वीकार नहीं किया था और गृहस्थशिरोमणि थे-प्रजाके स्वामी थे, तब प्रजापालक नरेशके नाते अपना कर्तव्य

पालन करनेमें उन्होंने तनिक भी प्रमाद नहीं दिखाया। स्वामी समन्तभद्र के शब्दोंमें उन्होंने अपनी प्यारी प्रजाको कृषि आदि द्वारा जीविकाके उपायकी शिक्षा दी। पश्चात् तत्त्व का बोध होनेपर अद्भुत उदययुक्त उन ज्ञानवान् प्रभुने ममताका परित्याग कर विरक्ति धारण की। जब वे मुमुक्षु हुए तब तपस्वी बन गए। इससे इस बातपर प्रकाश पड़ता है कि ऋषभदेव भगवान्ने प्रजापतिकी हैसियतसे दीन-दुखी प्रजाको स्वावलम्बता आदिका उपदेश दिया। कर्तव्य पालनमें वे पीछे नहीं हटे। मुक्तिकी प्रबल पिपासा जाग्रत होनेपर सम्पूर्ण वैभवका परित्याग कर उन्होंने मुनिपद स्वीकार किया तथा कर्मोंको नष्ट कर डाला। भगवज्जिनसेनने लिखा है कि "प्रजाके जीवननिमित्त भगवान् आदिनाथ प्रभुने गृहस्थोंको शस्त्रविद्या लेखन कला, कृषि, वाणिज्य, संगीत और शिल्प कलाकी शिक्षा दी थी।'

अहिंसक गृहस्थ बिना प्रयोजन इरादापूर्वक क्षुद्र से क्षुद्र प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचायगा, किन्तु कर्तव्यपालन, धर्म तथा न्यायके निमित्त यदि यथावश्यक अस्त्र शस्त्रादिका प्रयोग करनेसे भी मुख न मोड़ेगा। आचार्य सोमदेवने शस्त्रोपजीवी क्षत्रियोंको अहिंसाका व्रती इस तर्क द्वारा सिद्ध किया है।—"निरर्थकवधत्यागेन क्षत्रिया व्रतिनो मताः।' उनने यह भी लिखा है, जैन नरेश उन पर ही शस्त्र प्रहार करते हैं जो शस्त्र लेकर युद्धमें मुकाबला करता है अथवा जो अपने मण्डलका कण्टक होता है। वह दीन, दुर्बल अथवा सद्भावनावाले व्यक्तियों पर शस्त्रप्रहार नहीं करते।

गृहस्थ स्थूल हिंसाका त्याग करता है। स्थूल शब्दका भाव यह है कि निरपराध व्यक्तियोंका संकल्पपूर्वक हिंसन कार्य न किया जाय। पुराणोंमें यह बात अनेक बार सुननेमें आती है कि अपराधियोंका यथा योग्य दण्ड देनेवाले चक्रवर्ती आदि अणुव्रती थे। इसमें कोई विरोध नहीं आता।

जो यह समझते हैं कि जैनधर्मकी अहिंसामें दैन्य और दुर्बलताका हाथ छिपा हुआ है उनकी धारणा उतनी ही भ्रान्त है जितनी उस व्यक्तिकी जो सूर्यको अंधकारका पिण्ड समझता है। जैन दृष्टिमें न्यायका धर्मसमान महत्वपूर्ण कहा है। अमृतचन्द्र स्वामीने पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें स्थितिकरण अंगका वर्णन करते हुए यह बताया है—"न्याय मार्गसे विचलित होनेसे उद्यत व्यक्तिका स्थितीकरण करना चाहिए।" अन्यान्य ग्रन्थकारोंने जहाँ 'धर्म शब्दका प्रयोग किया है वहां उनमें 'न्याय' शब्दका महत्वकर न्यायके विशिष्ट अर्थपर प्रकाश डाला है। वास्तवमें "शमो हि भूषणं यतीनां न तु भूपतीनाम्" यह अहिंसकों की दृष्टि रही है।

शरीर और आत्माका भेद ज्ञान-ज्योतिके प्रकाशमें पृथक पृथक् अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा सम्यक्त्वी कर्तव्यानुरोधमें मंत्र तंत्र यंत्र आदिकी सहायता ले, अपना सर्वस्व तक अर्पण कर वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु धर्मके आयतन आदिकी रक्षा करनेमें उद्यत रहता है।

पंचाध्यायीमें लिखा है—सिद्ध, अरिहन्त भगवानकी प्रतिमा, जिनमन्दिर मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ तथा शास्त्रकी रक्षा, स्वामीके कार्यमें तत्पर सुयोग्य सेवकके समान, करना वात्सल्य कहलाता है। इनमेंसे किसी पर घोर उपसर्ग होनेपर सम्यग्दृष्टि को उसे दूर करनेके लिए तत्पर रहना चाहिए। अथवा जब तक अपनी सामर्थ्य है तथा मंत्र शस्त्र, द्रव्यका बल है, तब तक वह तत्त्व-ज्ञानी उन पर आई हुई बाधाको न देख सकता है और न सुन सकता है। (८०८-१०)"

सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथने अपने गृहस्थ जीवनमें चक्रवर्तीके रूपमें दिग्विजय की थी। स्वामी समन्तभद्रने बृहत्स्वयम्भूमें लिखा है—"जिन शान्तिनाथ भगवान्ने सम्राट्के रूपमें शत्रुओंके लिये

भीषण चक्र अस्त्र द्वारा सम्पूर्ण राजसमूहको जीता था, महान् उदयशाली उनने समाधि ध्यानरूपी चक्रके द्वारा बड़ी कठिनतासे जीतने योग्य मोहबलको पराजित किया।'

गृहस्थ जीवनकी असुविधाओंका ध्यानमें रखते हुए प्राथमिक साधक की अपेक्षा उस हिंसाके सकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी चार भेद किए गए हैं। सकल्प निश्चय या इरादा (Intention) को कहते हैं। प्राणघातक उपक्रम की गई हिंसा सकल्पी हिंसा कहलाती है। शिकार खेलना, मांस भक्षण करना सदृश कार्योंमें सकल्पी हिंसाका दोष लगता है। इस हिंसामें कृत कारित अथवा अनुमोदना द्वारा पापका संचय होता है। साधकको इस हिंसाका त्याग करना आवश्यक है।

विरोधी हिंसा तब होती है जब अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले पर आत्मरक्षार्थ शस्त्रादिका प्रयोग करना आवश्यक होता है, जैसे अन्याय वृत्तिसे पर राष्ट्रवाला अपने देशपर आक्रमण करे उस समय अपने आश्रितोंकी रक्षाके लिए संग्राममें प्रवृत्ति करना। उसमें होनेवाली हिंसा विरोधी हिंसा है। प्राथमिक साधक इस प्रकारकी हिंसा से बच नहीं सकता। यदि वह आत्मरक्षा और अपने आश्रितों के संरक्षणमें चुप होकर बैठ जाए तो न्यायोचित अधिकारोंकी दुर्दशा होगी। जान माल, मातृ जातिका सम्मान आदि सभी संकटपूर्ण हो जाएँगे। इस प्रकार अन्तमें महान् धर्मका ध्वंस होगा। इसलिए साधन सम्पन्न समर्थ शासक अस्त्र शस्त्रसे सुसज्जित रहता है। अन्यायके प्रतीकारार्थ शांति और ममपूर्ण व्यवहारके उपाय समाप्त होनेपर वह भीषण दण्ड प्रहार करनेसे विमुख नहीं होता।

इस प्रसंग में अमरिकाके भाग्य विधाता एब्राहमलिंकनके के ये शब्द विशेष उद्बोधक हैं, 'मुझे युद्धसे घृणा है और मैं उससे बचना चाहता हूँ। मेरी घृणा अनुचित महत्वाकांक्षाके लिए होनेवाले युद्ध तक

ही सीमित है। न्याय रक्षार्थ युद्धका आह्वानन वीरताका परिचायक है। अमरिकाकी अखण्डताके रक्षार्थ लड़ा जानेवाला युद्ध न्यायपर अधिष्ठित, है अत युद्ध उससे दुष्ट नहीं है।"

यह सोचना कि बिना सेना अस्त्र शस्त्रादिके अहिंसात्मक पद्धतिसे राष्ट्रका सरक्षण और दुष्टोंका उन्मूलन हो जायगा, असम्भव है। भावना के आवेश में एक स्वप्नसाम्राज्य तुल्य दशाकी मधुर कल्पना की जा सकती है, जिसमें फौज पुलिस आदि दण्डके आयोजनोंका रंचमात्र भी सद्भाव नहीं हो। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री मौलाना आजाद ने ठीक ही कहा था "जब हमारे हाथमें भारतके शासनकी बागडोर आ जायगी तब हम अहिंसात्मक तरीकेसे उसका सरक्षण नहीं कर सकेंगे। (Mahatma Tendulkar Vol VIII P 339) यह बात आज प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। अहिंसा विद्याके पारदर्शी जैन-साधकों और अन्य सत्पुरुषोंने मानव प्रकृतिकी दुर्बलताओंको लक्ष्यमें रखते हुए दण्ड नीतिको भी आवश्यक बताया है। सागारधर्मामृतमें आगत यह कथन जैन दृष्टिको स्पष्ट रूपसे प्रकट करता है—'राजाके द्वारा शत्रु एवं पुत्रमें दोषानुसार पक्षपातके बिना समान रूपसे दिया गया दण्ड इस लोक तथा परलोककी रक्षा करता है।'

इसमें सन्देह नहीं है कि कर्मभूमिके अवतरणके पूर्व लोग मन्दकषायी एवं पवित्र मनोवृत्तिवाले थे इसलिए शिष्टसंरक्षण तथा दुष्ट दमन निमित्त दण्डप्रयोग नहीं होता था किन्तु उस सुवर्ण युगके अवसानके अनन्तर दूषित अन्तःकरणवाले व्यक्तियोंकी वृद्धि होने लगी, अत सार्वजनिक कल्याणार्थ दण्डप्रहार आवश्यक अंग बन गया, कारण दण्ड प्राप्तिके भयसे लोग कुमार्गमें स्वयं नहीं जाते। इसी कल्याण भावको दृष्टिमें रख भगवान् ऋषभनाथ तीर्थंकर सदृश अहिंसक संस्कृति के भाग्य विधाता महापुरुषने दण्ड धारण करनेवाले

नरेशोंकी सराहना की जाय इसके प्राचीन आनेके योग्य और समकी व्यवस्था बनती है।

जैन कथानकों से इस दृष्टि के रक्षणकी पुष्टि होती है। एक राजाने घोषणा कर दी थी कि आष्टाह्निक नामक जैनपर्वमें आठ दिन तक किसी भी जीवधारीकी हिंसा करनेवाला व्यक्ति प्राणदण्ड पायगा। राजके पुत्रने एक मेढ़ेको मारकर समाप्त कर दिया। राजाको पुत्रकी हिंसक वृत्ति का पता लगा तब अपने पुत्रका ममत्व त्यागकर जैन नरेशने पुत्रके लिए फाँसी की घोषणा की।

प्राणदण्डके औचित्यको हृदयंगम करनेवाले इस उदाहरणमें अतिरेक मानेंगे, किन्तु जब देशमें चन्द्रगुप्तादि जैन नरेशोंके समयमें ऐसा कठोर दण्ड-व्यवस्था थी तब पापसे बचकर लोग अधिक सन्मार्गोन्मुख होते थे। एक जैन धर्मज्ञ बन्धुने इंग्लैंडसे पत्र भेजकर अपनी जिज्ञासा व्यक्त की थी कि-जैन होनेके नाते हालके महायुद्धमें वह किस रूपमें प्रवृत्ति करे।

यह एक कठिन प्रश्न है। यदि स्वार्थ, अन्याय, लोभ, स्वच्छन्दचारिता के पोषणार्थ आततायीके रूपमें युद्ध छेड़ा जाता है तो उसमें स्वेच्छापूर्वक सहयोग देनेवाला अनीतिपूर्ण वृत्तिका प्रवर्धक होनेके कारण निर्दोष नहीं कहा जा सकेगा। इतना अवश्य है कि समष्टिके प्रवाहके विरुद्ध एक व्यक्तिकी बात 'नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज' के समान ही अरण्य रोदनसे किसी प्रकार कम न होगी। इस विकट परिस्थितिमें यदि आत्मबल हो तो उस अन्यायका साथ छोड़ना होगा। विभीषणने रावणका पापपक्ष छोड़ रामके न्यायपक्ष का आश्रय लिया था। यदि उसमें अन्यायके प्रतीकार योग्य दृढ़ आत्मबलकी कमी हो तो उसे युद्धमें सम्मिलित होते समय आसक्ति छोड़ना उचित होगा। इसके सिवा कोई उपाय ही नहीं है। अनासक्तिपूर्वक कार्य करनेमें और आसक्तिपूर्वक कार्य करनेमें बन्धकी दृष्टिसे बड़ा अन्तर है।

कोई-कोई लोग युद्धको आवश्यक और शौर्यवर्धक मान सदा उसके लिए सामग्रीका संचय करते रहते हैं और युद्ध छेड़नेका निमित्त मिल या न मिले किसी भी वस्तुका बहाना बना अपनी अत्याचारी मनोवृत्तिकी तृप्तिके लिए संग्राम छेड़ देते हैं। उन लोगोंकी यह विचित्र समझ रहती है कि बिना रक्तपात तथा युद्ध हुए जातिका पतन होता है और उसमें पुरुषत्व नहीं रहता—जर्मन विद्वान् नीट्श युद्धकी प्रेरणा करता हुआ कहता है—"संकटमय जीवन व्यतीत करो। अपने नगरोंको विसूवियस ज्वाला-मुखी पर्वतकी बगलमें बनाओ। युद्धकी तैयारी करो। मैं चाहता हूँ कि तुम लोग उनके समान बनो, जो अपने शत्रुओंकी खोजमें रहते हैं। मैं तुम्हें युद्धकी मन्त्रणा देता हूँ मेरी मन्त्रणा शान्तिकी नहीं, विजयलाभकी है। तुम्हारा काम युद्ध करना हो, तुम्हारी शान्ति विजय हो। अच्छा युद्ध प्रत्येक उद्देश्यको उचित बना देता है। युद्धकी वीरताने दयाकी अपेक्षा बड़े परिणाम पैदा किए हैं। *तुम्हारी दयाने नहीं, वीरताने अबतक अभागे* लोगोंकी रक्षा की है। तुम पूछते हो नेकी क्या है? वीर होना नेकी है। आज्ञा-पालन और युद्धका जीवन व्यतीत करो। खाली लम्बी जिन्दगीसे क्या फायदा?"[1]

वह यह भी कहता है "जो देश दुर्बल और प्यारपसन्द बन गए हैं, वे यदि जीवित रहना चाहते हैं तो उन्हें युद्धरूप औषध ग्रहण करना चाहिए। मनुष्यको युद्धके लिए शिक्षा दी जानी चाहिए। इसके सिवाय अन्य बातें बेसमझी की हैं। क्या आप यह कहते हैं कि पवित्र उद्देश्यके कारण युद्ध भी पवित्र हो जाता है? मेरा तो आपसे यह कहना है कि अच्छा युद्ध प्रत्येक उद्देश्य को स्वयं पवित्रता प्रदान करता है।

इस पक्षकी सारशून्यता दो महायुद्धोंके दुःखद परिणामने स्वयं प्रकट कर दी। हावर्ड युनिवर्सिटीके तत्त्वज्ञानके प्रो० डा० जार्जन

[1] "विशालभारत" सन् १९४१

लिखा था—"युद्ध राष्ट्रकी सम्पत्तिका नाश करता है, उद्योगोंको बन्द करता है, राष्ट्रके तरुणोंको रणाहत कर देता है, सहानुभूतिको सकीर्ण बनाता है और साहसी निकृष्ट चित्तवालों द्वारा शासित होनेके दुर्भाग्यका प्राप्त कराता है। यह भावी पीढ़ीकी उत्पत्तिका भार दुर्बल, बदसूरत, पौरुषहीन व्यक्तियोंपर सौंपता है। युद्धका साहस और सद्गुणोंकी भूमि स्वीकार करना, वैसा ही है जैसे व्यभिचारको प्रेमकी भूमि कहना।"

टालसटायका कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, युद्धका ध्येय प्राणघात है, उसके अस्त्र हैं जासूसी, छलकी प्रेरणा, अधिवासियोंका विनाश, उनकी सम्पत्तिका अपहरण करना अथवा सेनाकी रसदकी चोरी करना, दगा और झूठ, जिन्हें सैनिक उस्तादी कहते हैं। सैनिक व्यवसायकी आदतों में स्वतन्त्रताका अभाव रहता है। उनको अनुशासन, आलस्य, अज्ञानता क्रूरता, व्यभिचार तथा शराबखोरी कहते हैं।"

ड्यूक आफ वलिंगटनके ये शब्द शान्त भावमें हृदयगम करने योग्य हैं, "मेरी बात मानिये, अगर तुम युद्धका एक दिन देखलो, तो तुम सर्वशक्तिशाली परमात्मासे प्रार्थना करोगे कि भविष्यमें मुझे एक घण्टेके लिए भी युद्ध न देखना पड़े।"

वर्तमान युद्धोंकी प्रणाली और गति विधिको देखते हुए यह कहना होगा कि उनका बाह्य रूप अच्छा बताया जाता है और उनके अन्तरंगमें दुष्टता, अत्याचार, दीनोंपीड़न आदिकी कुत्सित भावनाएँ विद्यमान हैं। इस स्वार्थपूर्ण युद्धसे न्यायका संरक्षक, पौरुषका प्रवर्धक, गुणी जनोंका उत्साधक, दीनोंका उद्धारक धर्म-युद्ध बिलकुल भिन्न है। वर्तमान युद्ध तो इस बातको प्रमाणित करते हैं कि जड़ताके अखण्ड उपासक पश्चिमके वैज्ञानिक जगत्‌ने ही यह स्व-परध्वंसी अविद्या सिखाई। स्वर्गीय एण्ड्रयूज महाशयने लिखा था—"एक युद्धके अन्तर दूसरा छिड़ गया और उससे छुटकारा नहीं दीखता। वास्तविक बात तो

यह है कि पश्चिमी सभ्यतामें कुछ खराबी अवश्य है जो इन विनाशिनी प्रवृत्तियोंकी पुनरावृत्तिकी ओर प्रतिरोधके उपायके बिना प्रेरित करती है।"

प्राथमिक साधकका अपने उत्तरदायित्वका खयाल रखते हुए राष्ट्र आदिके संरक्षण निमित्त मजबूर हो विरोधी हिंसाके चक्रमें शामिल होना पड़ता है। समाजके कल्याणार्थ राष्ट्रके मार्गमें दुर्जनरूपी काँटोंको दूर किये बिना राष्ट्रका उत्थान और विकास नहीं हो सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कण्टकके नाम पर रास्तेके मूलरूप बुनियादी पत्थरोंको भी उखाड़ कर फेंका जाए। ऐसी अवस्थामें यदि हम कण्टकोंसे बचे, तो गहरे गड्ढे अपनी गोदमें गिरा हमें सदाके लिए बिना सुलाए न रहेंगे। एकान्तरूपसे युद्धमें गुणोंका ही दर्शनवाला सारे समाजका भयंकर विसूवियस ज्वालामुखी नहीं, पौराणिक जगत्में वर्णित प्रलयकी प्रचण्ड ज्वालापुञ्जरूपमें परिणत कर देगा। उस सर्व-संहारिणी अवस्थामें क्या आनन्द और क्या विकास होगा? नीट्शेकी दृष्टिमें मनुष्य भूखे जानवरके समान है। उसके अनुसार पशु जगत्का मात्स्य न्याय उचित कहा जा

[1] साप्ताहिक धर्मयुगमें द्वितीय महायुद्धकी विभीषिका पर इन शब्दोंमें प्रकाश डाला गया है। महायुद्धमें मारे गए—एक करोड़से अधिक नौजवान अर्थात् नगर, मध्यप्रदेश और बिहार राज्योंका सारा युवक समुदाय। इनसे दुगने मारे गए—डेढ़ करोड़ स्त्रियां, बालक और वृद्ध अर्थात् उड़ीसा राज्यकी सारी जनसंख्या। पागल, लूले, लँगड़े और असमर्थ—तीन करोड़ व्यक्ति अर्थात् पश्चिम बंगालकी पूरी जन संख्या। गृहविहीन या निर्वासित या बन्दी—पांच करोड़ अर्थात् पाकिस्तानके सारे घर। निराश्रित होकर दुर्भिक्ष और बीमारीके शिकार पन्द्रह करोड़ अर्थात् सन् १९५४ के बंगालके अकालके निराश्रितों की जनसंख्याका चालीस गुना। युद्धपर खर्च किया गया पैसा यदि लगाम बांट दिया जाता तो दुनियाकी २३० करोड़की जन संख्या में प्रत्येक स्त्री पुरुषको चार हजार रुपये मिलते।

सकेगा, लेकिन, विवेकी और प्रबुद्ध मानवोंका कल्याण पशुताकी ओर मुक्तम नहीं है। इस विश्वम महामानव बन हम एक ऐसे कुटुम्बका निर्माण करना है, जिसमें रहने वाला देश, जाति आदिकी संकीर्ण परिधियों से पूर्णतया उ मुक्त हो और यथार्थ में जिसकी आत्मामें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अमूल्य सिद्धान्त विद्यमान हो। विख्यात लेखक लुई फिशरका कथन वास्तविक है, "हमने पिछले महायुद्धमें कैसरको पराजित किया था तो पश्चात् हमें हिटलरकी प्राप्ति हुई। हिटलरके पराजय के उपरान्त यह संभव है कि हमें और भी क्षतिकारी हिटलर मिले। यह तब तक होगा, जब तक हम उस भूमि और बीजको ही नहीं समाप्त कर देंगे, जिसमें हिटलर, मुसोलिनी तथा अन्य लड़ाकू लोग पैदा होते हैं।"[1]

इस प्रसंगमें जर्मन विद्वान् नीटशाकी अपेक्षा वीरि० सावरकर की हिंसा सम्बन्धी चिन्तना भी विचारणीय है। वे लिखते हैं—"हिंसा और अहिंसाके कारण दुनिया चलती है। अपनी-अपनी सीमाके अन्दर दोनों आवश्यक हैं। इनके बिना संसार नहीं चल सकता। माता अपने वक्षःस्थल से बच्चेको दूध पिलाती है, उसके इस त्यागमें अहिंसा नहीं है परन्तु जिस समय उसपर कोई दूसरा आक्रमण करनेके लिए आता है तो वह मुकाबले पर हिंसाके लिए तैयार हो जाती है। इस प्रकार हिंसा अहिंसा दोनों एक स्थानपर विद्यमान हैं। समस्त सृष्टि हिंसा अहिंसा पर खड़ी है, इससे तो यह प्रतीत होता है कि माता जो आक्रमणकारीकी हिंसाके लिए उतरती है, वह उचित है। इस प्रसंगमें जैन गृहस्थकी दृष्टिसे यदि हम विचार

[1] 'We defeated the Kaiser and got a Hitler Following the defeat of Hitler we may get a worse Hitler unless we distroy the soil and seed out of which Hitlers Mussolinees and militarists grow,

—Vide Empire by Louis Fischer P 11

करें तो आक्रमणकारी के मुकाबले के लिए मालाका पराक्रम प्रशंसनीय गिना जाएगा उसे विरोधी हिंसाकी मर्यादाके भीतर रखना होगा जिसका गृहस्थ परिहार नहीं कर सकता। आगे चलकर श्री सावरकर सकल्पी हिंसाको भी उचित बताते हैं जिसका वैज्ञानिक अहिंसक समर्थन नहीं करेगा।

वे कहते हैं—"यदि मैं चित्रकार होता, तो मैं शेरनीका चित्र बनाता, जिसके मुँहसे रक्तकी बिन्दु टपकती होती। इसके अतिरिक्त उसके सामने एक हिरन पड़ा होता जिसे मारनेके कारण उसके मुँहमें रक्त लगा होता साथ ही वह अपने स्तनोंसे बच्चेको दूध पिला रही हो। ऐसा चित्र देखकर आदमी झट समझ सकता है कि दुनियाको चलानेके लिए किस प्रकार हिंसा अहिंसाकी आवश्यकता है। हिंसा अहिंसा एक दूसरे पर निर्भर है।"[1]

यह चित्र पराक्रमी अहिंसककी वृत्तिका अवास्तविक चित्रण करता है। सच्चा अहिंसक अपने पराक्रमके द्वारा दीन-दुखोंका उद्धार करता है, उन पर आई हुई विपत्ति को दूर करता है। दीन पर अपना शौर्य प्रदर्शन करनेमें अत्याचारीकी आभा दिखाई देती है। बेचारा भीतमूर्ति अपराधहीन मृग असमर्थ है, कमजोर है और है पूर्णतया निर्दोष। उसके रक्त से रंजित शेरनीका मुख शौर्यका प्रतीक नहीं कहा जा सकता। वह क्रूरता और अत्याचारका चित्र आँखोंके आगे खड़ा कर देता है। शेरनीके समान महान् शक्तिका संचय प्रशंसनीय है, अभिनन्दनीय है, किन्तु अत्याचारीके स्थानपर दीनोंको उसका शिकार बनाया जाना, 'शक्ति परेषां परिपीडनाय" की सूक्तिका स्मरण कराता है। वास्तविक अहिंसक गृहस्थ मजबूरी की स्थिति में हिंसा करता है। ठीक शब्दोंमें तो यों कहना चाहिए कि उसे हिंसा करनी पड़ती है। प्राणघात करनेमें उसे प्रसन्नता नहीं है, किन्तु वह करे क्या? उसके पास ऐसा कोई उपाय नहीं है

[1] "विशालभारत", सन् ४१।

जिससे वह कण्टकका उन्मूलन कर न्यायकी प्रतिष्ठा स्थापित कर सके। व्याघ्रीकी सदृश पशुओंकी हिंसन वृत्ति मानवका पथ प्रदर्शन नहीं कर सकती, कारण उसमें पशुताको ओर आमन्त्रण है। उसमें पशुबलके सद्भावके साथ साथ पशु वृत्तिका भी प्रदर्शन है। अतः शौर्यके नामपर अत्याचारी के चित्रको आदर्श अहिंसात्मक वीरकी तस्वीर नहीं कहा जा सकता। यह चित्र अत्याचारी और स्वार्थी (Tyrant and Selfish) प्राणीका वर्णन करता है। आदर्श अहिंसक मानवका नहीं।

जस्टिस जे० एल० जैनीने जैन अहिंसाके विषयमें कहा है—"जैन आचार शास्त्र सब अवस्थावाले व्यक्तियोंके लिए उपयोगी है। वे चाहे नरेश, योद्धा, व्यापारी, शिल्पकार अथवा कृषक हों, वह स्त्री पुरुषकी प्रत्येक अवस्थाके लिए उपयोगी है। जितनी अधिक दयालुतासे बन सके अपना कर्तव्य पालन करो। सूत्र रूपमें यह जैनधर्मका मुख्य सिद्धान्त है।"

हिंसाका तृतीय भेद आरम्भी हिंसा कहा जाता है। जीवन रक्षार्थ शरीरका भरण-पोषण करनेके लिए आहार पान आदिके निमित्त होनेवाली हिंसा आरम्भी हिंसा है। शुद्ध भोजन-पानका आरम्भ भावोंके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है।

जिनके प्राण रसना इन्द्रियमें बसते हैं वे तो इन्द्रियके दास बन विना विवेकके राक्षस सदृश सबभक्षी बननेसे नहीं चूकते। मद्य, मांसादि द्वारा शरीरका पोषण उनका ध्येय रहता है। अनेक प्रकारके व्यञ्जनादिसे जिह्वाको लालसा देकर अधिक से अधिक परिमाणमें भाज्य सामग्री उदरस्थ की जाती है। पशुजगत्के आहारपानमें भी कुछ मर्यादा रहती है किन्तु भोगी मानव ऐसे पदार्थों तकका स्वाद्य करनेसे नहीं चूकता, जिनका वर्णन सुन सात्विक प्रवृत्तिवालोंको वेदना होती है।

सम्राट् चन्द्रगुप्तका जीवन जब जैन संत हरिविजय सूरि आदिके सम्पर्कसे आत्मा भारम प्रभावित हुआ तब अबुलफजलके शब्दोंमें सम्राट्

की कब्र इस प्रकार की गई—यह उचित बात नहीं है कि इन्सान अपने पेटको जानवरों की कब्र बनाए।[1]

विश्वविख्यात महान साहित्यिक बर्नार्डशा के विषयमें यह प्रसिद्धि है कि एक बार वे एक भोजमें पहुँचे जहाँ उनके लिए शाकाहार का प्रबन्ध न था। किसीने उनसे पूछा कि आप यहाँ क्यों नहीं खाते हैं? उनने कहा था ईश्वरने मुझे पेट दिया है, कब्रस्तान नहीं। इसे शाक भाजीके लिए स्थान है, मरे हुए जीवोंके लिए नहीं।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यदि बाह्य हिंसाके सिवाय भावों पर दृष्टि न डाली जाय तो बड़ी उपहासास्पद स्थिति होगी।

प्राणघातको ही हिंसाकी कसौटी समझनेवाला, खेतमें कृषि कर्म करते हुए अपने हल द्वारा अगणित जीवोंको मृत्युके मुखमें पहुँचानेवाले किसानको बहुत बड़ा हिंसक समझेगा और प्रभातमें जगा हुआ मछली मारनेकी योजनामें तल्लीन किन्तु कारणविशेषसे मछली मारनेको न जा सकनेवाला मत्स्यताप संयुक्त धीवरको शायद अहिंसक मानेगा। अहिंसा विद्याके प्रकाशमें किसान उतना अधिक पापी नहीं है जितना वह धीवर है। किसानकी दृष्टि जीववधकी नहीं है, भले ही उसके कार्यमें जीवोंकी हिंसा होती है। इसके ठीक विपरीत धीवर की स्थिति है। उसकी आत्मा आकण्ठ हिंसामें निमग्न है यद्यपि वह एक भी मछलीको सन्ताप नहीं दे रहा है। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि यथार्थ अहिंसाका उदय, अवस्थिति और विकास अन्तःकरणकी वृत्तिपर निर्भर है। जिस बाह्य प्रवृत्ति से उस निर्मल वृत्तिका पोषण होता है उसे अहिंसाका अंग माना जाता है। जिससे निर्मलताका शोषण होता है, उस बाह्य वृत्तिको (भले ही वह अहिंसात्मक दीखे) निर्मलता का घातक होनेके कारण हिंसाका अंग माना है।

---

[1] It is not right that a man should make his stomach the grave of animals —

AINI AKABARI —Vol III P 380

दूसरो, रोगीके हितकी दृष्टिवाला डाक्टर आपरेशनमें असफलता वश यदि किसी का प्राणहरण कर देता है, तो उसे हिंसक नहीं माना जाता। हिंसाके परिणामके बिना हिंसाका दोष नहीं लगता। यदि व्यक्ति अपने विरोधीके प्राणहरण करने की दृष्टिसे उसपर बन्दूक छोड़ता है और दैववश निशाना चूकता है फिर भी वह व्यक्ति हिंसाका दोषी माना जाता है क्योंकि उसके हिंसाके परिणाम थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू पर छुरे द्वारा बाबूराव नामक व्यक्तिने प्रहार किया था, किन्तु नेहरूजीके पुण्योदयसे वे बाल बाल बच गए। न्यायालयने बाबूराव को हिंसा का दोषी मानकर दंडित किया। इससे यह स्पष्ट है कि भावों पर हिंसा प्रधान रूपसे निर्भर है।

उद्योगी हिंसा वह है जो खेती, व्यापार आदि जीविकाके उचित उपायोंके करनेमें हो जाती है। प्राथमिक साधक बुद्धिपूर्वक किसी भी प्राणीका घात नहीं करता किन्तु कार्य करनेमें हिंसा हो जाया करती है। इस हिंसा-अहिंसाकी मीमांसामें 'हिंसा करना' और 'हिंसा हो जाना' में अन्तर है। हिंसा करनेमें बुद्धि और मनोवृत्ति प्राणघातकी ओर स्वेच्छा पूर्वक जाती है, हिंसा हो जाने में मनोवृत्ति प्राणघातकी नहीं है, किंतु साधन तथा परिस्थिति विशेषवश प्राणघात हो जाता है। मुमुक्षु ऐसे व्यवसाय, वाणिज्यमें प्रवृत्ति करता है जिससे आत्मा मलिन नहीं होती, अत वह क्रूर अथवा निन्दनीय व्यवसायमें नहीं लगता। न्याय तथा अहिंसाका रक्षणपूर्वक अल्पलाभमें भी वह सन्तुष्ट रहता है। वह सम्पत्तिके स्थानमें पुण्याचरणको बड़ी और सच्ची सम्पत्ति मानता है।

एक कोट्यधीश जैन व्यवसायी बन्धुने हमसे पूछा—"हमने दुग्धादिके प्रचार तथा पशु पालन निमित्त बहुतसे पशुओंका पालन किया है। जब पशु वृद्ध होने पर दूध देना बिलकुल बन्द कर देते हैं, तब अन्य लोग तो उन निरुपयोगी पशुओंको कसाइयोंको बेच खर्चसे मुक्त हो द्रव्यलाभ उठाते हैं किन्तु जैन होनेके कारण हम उनको न बेचकर उनका

भरण-पोषण करते हैं, इससे प्रतिस्पर्धाके बाजारमें हम विशेष आर्थिक लाभसे वंचित रहते हैं। बताइये आपकी उदारता हिंसा की परिधिके भीतर क्या हम उन असमर्थ पशुओं का वध सकते हैं?" मैंने कहा-कभी नहीं। उन्हें बेचना क्रूरता, कृतघ्नता तथा स्वार्थपरता होगी। जैसे अपने कुटुम्बके माता, पिता, आदि वृद्धजनोंके अर्थशास्त्र की भाषामें निरुपयोगी होने पर भी नीतिशास्त्र तथा सौजन्य विचारके उज्ज्वल प्रकाशमें दीनसे दीन भी मनुष्य उनकी सेवा करते हुए उनको विपत्तिकी अवस्थामें आराम पहुँचाता है, ऐसा ही व्यवहार उदार तथा विशाल दृष्टि रख पशु जगतके उपकारी प्राणियोंका रक्षण करना कर्तव्य है। बड़े बड़े व्यवसायी अन्य मार्गोंसे धनसंचय करके यदि अपनी उदारता द्वारा पशुपालनमें प्रवृत्ति करें, तो अहिंसा धर्मकी रक्षाके साथ ही साथ ही साथ राष्ट्रके स्वास्थ्य तथा शक्तिसंवर्धनमें भी विशेष सहायता प्राप्त हो।

जब पशुओं तकमें अपने पर उपकार करने वालेके प्रति कृतज्ञताका भाव पाया जाता है तब पशु जगत् से अपने को श्रेष्ठ मानने वाले मानव का अर्थ लोलुपता के कारण कृतघ्न बनना मानवता की प्रतिष्ठासे पतित होना है। एन्ड्राक्लिस एक सिंह के पैरका कंटक दयाभाव वश निकाला था। एक बार वह सिंह एन्ड्राक्लिस को खाने को छोड़ा गया। भूखा सिंह किस पर दया करता है। उसे उस मनुष्य का भक्षण करते क्षण भर न लगता किन्तु उस कृतज्ञ सिंहने उस उपकारी मनुष्य को देखा। देखतेही उस मृगराजको अपने पर किए गए उपकारकी स्मृति आ गई। इससे उस सिंहने उस मनुष्यको छोड़दिया। क्या हम उदाहरणसे स्वार्थी मनुष्य अपने कर्तव्य के लिए कुछ मार्ग दर्शन नहीं पाता है? अतः मनुष्य को सदा इंसानियत—मनुष्यताके अनुरूप कार्य करना चाहिए। धन को अनुचित लालचमें पैसा कमाने की मशीन बननेवाला व्यक्ति निकृष्ट कोटि का बन जाता है।

करुणा के द्वारा जीवको सुख और समृद्धि प्राप्त होती है। प्रकृति मनुष्यकी करुणापूर्ण वृत्ति के कारण अन्य साधनों द्वारा कल्पनातीत कामना पूर्ण किया करती स्वर्गीय आचार्य शांतिसागर महाराज जब साधु नहीं बने थे और भाज ग्राम में विद्यमान जमींदारी का निरीक्षण तथा संरक्षणादि करते थे, उस समय की महत्वपूर्ण घटना स्मरण योग्य है। वे अपने बस्तीके पासवाले खेतकी निगरानी को जाते थे। उनके पड़ोसी ब्राह्मण का नौकर अपने स्वामी के खेत के पक्षियों को उड़ाकर उनके खेतमें पहुँचाता था। वे उन पक्षियों को नहीं भगाते थे। हजारों पक्षी उनके खेतका अनाज खाते रहते थे और वे महापुरुष पीठ करके बैठ जाते थे, जिसमें पक्षियों के चित्त में भ्रांति न उत्पन्न हो। उन पक्षियोंकी प्यासकी पीड़ा न हो इससे वे पानी की मोंट हाथोंसे ही खींचकर वहां पानी भर देते थे। पक्षीगण कलरव करते हुए अनाज खाते थे और पानी पीकर हर्षित होते थे।

ऐसी स्थितिमें सामान्य तर्कशास्त्री यही कहेगा इस यह पद्धति से तो खेत उजड़े बिना न रहेगा। हमारी भी ऐसी धारणा थी किन्तु जब हमने भोजग्राम पहुँचकर महाराजके पड़ोसी ब्राह्मण के नौकर से उक्त चर्चा पूछी तो उसने बताया कि पक्षियों के खाने पर भी महाराजके खेतकी फसल विपुल मात्रा में आती थी। यही बात आचार्य शांतिसागर महाराजके मुखसे हमने सुनी थी। उनने कहा था, "जीव दया द्वारा दाना कम नहीं होता, इसका हम स्वयं अनुभव है।" एक भद्र स्वभाव वाले जागीरदार मुसलिम बन्धुने भी सुनाया था कि पहले उनके खेतों में हरिणोंके झुण्ड के झुण्ड कमसे कम २ चार आदिके खेतों का खाते थे तो खेत में बड़े २ सुट्टे लगा करते थे, किन्तु तृष्णावश उन हरिणों को शिकार करके मार डालने के बाद अब बहुत कम मात्रामें उपज होने लगी। इस प्रकार मनुष्यको अपना कर्तव्य अहिंसानुमोदित ही निश्चित करना उचित है धनकी लालसासे जीववध के कार्यमें प्रवृत्ति करने वाले जीव को स्थायी

शांति और आनन्द कभी भी नहीं मिलेगा।

मनुष्य जीवन श्रेष्ठ और उज्ज्वल कार्योंके लिए है। जो दिग्भ्रान्त प्राणी उसे अर्थ अर्जन करनेकी ही मशीन सोच सम्पत्ति संचयका साधन मानते हैं, वे अपने पर्याय कल्याणमें वंचित रहते हैं। विवेकी मानव आदर्श रक्षणके लिए आपत्तिकी परवाह नहीं करता। वह तो, विपत्तियोंको आमन्त्रण देता है और अपने आत्मबलकी परीक्षा लेता है। ऐसा अहिंसक शराब, हड्डी चमड़ा, मछलीके तेल सदृश हिंसासे साक्षात् सम्बन्धित वस्तुओंके व्यवसाय द्वारा बड़ा धनी बन राजप्रासाद खड़े करनेके स्थानपर ईमानदारी और न्यायपूर्वक कमाई गई रूखी रोटीके टुकड़ोंको अपनी झोपड़ीमें बैठकर खाना पसंद करेगा। वह जानता है कि हिंसादि पापोंमें लगनेवाला व्यक्ति नरक तथा तिर्यञ्च पर्यायमें वचनातीत विपत्तियोंको भोगा करता है। अहिंसात्मक जीवनमें जो आनन्दनिर्झर आत्मामें बहता है उसका स्वप्नमें भी दर्शन हिंसकवृत्तिवालोंके पास नहीं होता। बाह्य पदार्थोंके अभावमें रंचक भी कष्ट नहीं है यदि आत्माके पास सद्विचार, सदाचार और पवित्रताकी अमूल्य सम्पत्ति है। मेवाड़की स्वतन्त्रताके लिए अपने राजसी ठाठको छोड़ वनचरोंके समान घासकी रोटी तक खा जीवन व्यतीत करने वाले महाराणा प्रतापकी आत्मामें जो शान्ति और शक्ति थी क्या उसका शतांश भी अकबरके अधीन बन माल उड़ाते हुए मातृभूमिको पराधीन करने में उद्यत मानसिंहको प्राप्त था? इसी दृष्टिसे अहिंसाकी साधनामें कुछ ऊपरी अड़चनें आवें तो उनसे कुपथकी ओर दिखावटी आर झुकना लाभप्रद न होगा। जिस कार्यसे आत्मा की निर्मल वृत्तिका घात हो उससे सावधानीपूर्वक मानवको बचना चाहिए।

इस अहिंसात्मक जीवनके विषयमें लोगोंने अनेक भ्रान्त धारणाएँ बना रखी हैं। कोई यह सुझाते हैं कि यदि आनन्द का अवस्थान किसी को मार दे का जाए, तो आत्मघात मरण करनेवालेकी सद्गति होती

वे लोग नहीं सोचते कि मरते समय उस मात्रमें परिणामोंकी क्या से क्या गति नहीं हो जाती। प्राण परित्याग करने समय होने वाली वेदनाको वचाना प्राण लेनेवाला क्या समझे! कोई मानते हैं दुखी प्राणीके प्राणोंका अन्त कर देनेसे उसका दुःख दूर हो जाता है। ऐसी ही भावनासे अहिंसाके विशेष आराधक गांधीजीने अपने सावरमती आश्रममें एक रुग्ण गो वत्सको इन्जेक्शन द्वारा यम मंदिर पहुँचाया था। अहिंसाके अधिकारी ज्ञाता आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी इस कृतिमें पूर्णतया हिंसाका सद्भाव बतलाते हैं। जीवन लीला समाप्त करने वाला भ्रमवश अपनेको अहिंसक मानता है। वह नहीं सोचता कि जिस पूर्वसंचित पापकर्मके उदयसे प्राणी कष्टका अनुभव कर रहा है, प्राण लेनेसे उसकी वेदना कम नहीं होगी। उसके प्रत्यक्ष होनेके साधनोंका अभाव हो जानेसे हमें उसकी यथार्थ अवस्थाका परिचय नहीं हो पाता। हाँ, प्रत्याख्यान करनेके समान यदि उस जीवके असाता वेदनीय कर्मका भी नाश हो जाता, तो इस कार्यमें अहिंसाका सद्भाव स्वीकार किया जाता। पशुके साथ मनमाना व्यवहार इसलिए कर लिया जाता है कि उसके पास अपने कष्टोंको व्यक्त करनेका समुचित साधन नहीं है। वछड़ेके समान मनुष्याकृतिधारी किसी व्यक्तिके प्रति पूर्वोक्त करुणा का प्रदर्शन होता तो आधुनिक न्यायालय उसका उचित इलाज किए बिना न रहता।

यह भी कहा जाता है कि हिंसक पशुओं आदिके प्राण लो, जो दूसरोंके प्राण लिया करते हैं। इस भ्रान्त दृष्टिके दोषको बताते हुए पंडितवर आशाधरजी समझाते हैं कि इस प्रक्रियासे संसारमें चारों ओर हिंसाका दौर दौरा हो जाएगा तथा अतिप्रसंग नामका दोष आएगा। बड़े हिंसकोंका मारने वाला उससे भी बड़ा हिंसक माना जायगा और इस प्रकार वह भी हनन किया जानेका पात्र समझा जायगा। हिंसक शरीर धारण करने मात्रसे ही हिंसात्मक प्रवृत्तिका प्रदर्शन किए

बिना उन्हें मार डालना विवेकशील मानवके लिए उचित नहीं कहा जा सकता है। विचारक सोचता है कि इस अनन्त संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव आज सिंह, सर्पादि पर्यायमें है और अपनी पर्यायदोषके कारण अहिंसात्मक वृत्तिको धारण नहीं कर सकता है, तो उसके जीवनकी समाप्ति कर देना कहां तक उचित है, क्योंकि हिंसन करना उन आत्म विकासहीन पशुओंके समान मेरा धर्म नहीं है। जिस पशुको मैं मारनेकी सोचता हूँ सम्भव है कि मेरे अत्यन्त स्नेही हितैषी जीवका ही उस पर्यायमें उत्पाद हुआ हो और दुर्भाग्यवश उसे हतभाग्य मनुष्योंके द्वारा क्रूर मानी जानेवाली पर्यायमें जन्म मिला हो। ऐसे प्राणी के हनन करनेके विचारसे आत्मामें क्रूरताका शैतान अड्डा जमा लेता है। उससमय अहिंसात्मक वृत्ति दूर हो जाती है। अतएव दयालु व्यक्तिको अधिकसे अधिक प्रयत्न प्राणरक्षा करना चाहिए। कभी-कभी जन्मान्तरमें हिंसित जीव अच्छा बदला भी लेता है, यह नहीं भूलना चाहिए। शाक्त सम्प्रदाय की धारणा है, 'भगवान पशुओंका निर्माण यज्ञ में बलिदान के हेतु ही किया है अतः पशुबलि का किया जाना भक्ति का उज्ज्वल रूप है उसकी निन्दा करना अज्ञ प्रलाप है। इसके निराकरण में भूधरदासजी का यह पद्य पर्याप्त प्रकाश प्रदान करता है—

कहैं पशु दीन सुन यज्ञ करैया मोहि,
होमत हुताशनमें कौनसी बड़ाई है।
स्वर्ग सुख मैं न चहौं, देहु मुझे यों न कहौं,
घास खाय रहौं मेरे यही मन भाई है।
जो तू यह जानत है वेद यों बखानत है,
यज्ञ जलौ जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है।

डारै क्या न नीर या म अपने उदु नी को,
मोह जिन नारै जगदीस की दुहाइ है।

तार्किक शिरोमणि श्रत्मलरदेव कहते हैं 'यदि विधाताने पशुओं का निर्माण यज्ञके लिए ही किया है तो उन पशुओं के द्वारा कृषि, भारवहन क्रय विक्रय आदि कार्य करनेसे अनिष्ट फलकी प्राप्ति होगी, जिस प्रकार कफ शान्त करने वाली औषधि का अन्य प्रकार से उपयोग करने से दर्प उत्पन्न हो जाता है।'

भगवज्जिनसेन ने महापुराण में ऐसे हिंसाके समर्थक वाक्यों को परमात्मा की वाणी न मानकर उन्हें यम की वाणी कहा है। आज के बुद्धिजीवी विवेकी मानव का कर्तव्य है, कि भ्रान्त जनता को जीव बलिदान के कार्य से विमुख करावे। कलकत्ता में कालीके मंदिर जब गांधीजी ने देखा और वहां रक्तकी नाली का प्रवाह उनके नेत्रगोचर हुआ, तब उनकी आत्मा कांप उठी। उनके शब्द हैं, "मैं बेचैन और व्याकुल हो गया, मेरी अनवरत यही प्रार्थना है कि इस भूतल पर ऐसी महान आत्मा नर अथवा नारीके रूपमें आविर्भाव हो, जो मंदिरकी हिंसा का अन्त करके उसे पवित्र कर सके।" (आत्मकथा)

कहते हैं, विश्व में जीव बलिदान का सबसे बड़ा केन्द्र गोहाटी (आसाम) के पास में स्थित कामाक्षी देवी का मंदिर है। वहां अगणित पशुओं का संहार धर्म के नाम पर सदा हुआ करता है। आज भी भारत में ग्रामीण लोग देवी के आगे असंख्य जीवों का बलिदान करते हैं। इन लोगों के मनमें यह भ्रम का भूत घुसा है, कि हिंसा करने में उनका हित है और जीव वध न करने से उनका अहित हो जायगा। कहीं २ तो मिथ्या प्रचार के कारण लोग पूर्वापर दुष्परिणाम का बिना विचार किए नर बलि तक को कर बैठते हैं। कुछ वर्ष पूर्व समाचार पत्रों में छपा था कि एक पिताने स्वप्न में इस देवीका

दर्शन किया। परचात् जागने पर अपने पुत्रको ही मारकर देवी को भेट कर दिया।

बीसवीं सदीमें होनवाले है इस प्रकार के बलिदान की कथा किसके हृदयमें वर्णनातीत व्यथा को उत्पन्न न करेगी। सन् १६४७ में हम वर्धामें डा० राजेन्द्रप्रसादजी से मिले थे। श्री स्व० किशोरलाल मश्रुवाला जी उस चर्चा के समय उपस्थित थे। बाबू राजेन्द्रप्रसादजीसे हमने यही अनुरोध किया था सर्वोदय समाज के प्रचार के कार्यक्रम में धर्म के नाम पर जीव बलिदान निषेध को शामिल कराइये। बहुत समय तक चर्चा हुई थी। श्री विनोबाजी से भी उनके पौनार के आश्रममें चर्चा की थी उस समय देश में नव निर्मित पाकिस्तान से संघर्षजनित नर बधका भीषण काण्ड हो रहा था, अतः हमारे द्वारा प्रस्तुत किए गए विचारों पर उचित कार्यवाही की कम गुंजाइश थी, किन्तु अब तो वातावरण बदल चुका है। कांग्रेस सुसंगठित संस्था है। उसमें ही अत्यधिक संबंधित सर्वोदय समाज का निर्माण हुआ है। ऐसी संस्था यदि सदा,पकारी जीवदयाके क्षेत्रमें प्रचार करे और शासन का आश्रय भी प्राप्त हो तो महत्वपूर्ण मानवता की सेवा हो सकती है। समय प्रचार तथा सद्भावनाके द्वारा क्रान्तिकारी मंगलमय परिवर्तन हो सकता है। यह कार्य प्रेमपूर्ण प्रचार द्वारा पर्याप्त सफल हो सकता है। गांधीजी की आत्मकथा के उपरोक्त अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बापूकी हार्दिक लालसा क्या थी? उनके नाम पर स्थापित संस्थाओं के द्वारा उक्त दिशा में कार्य किया जा सकता है। जिनकी आत्मा पशुओं की व्यथासे प्रभावित नहीं होती है, उनको विश्वकवि रवि बाबू के इन वाक्यों का मनन करना चाहिए, 'हमारे देशमें जो धर्म का आदर्श है, वह हृदय की चीज़ है। यदि हम जीवन की महत्ता को (Sanctity of life) एक बार स्वीकार करते हैं, तो फिर पशु पक्षी कीट, पतंग आदि किसी पर इसकी हद नहीं बांध लेते हैं। धर्म के नियम ने ही स्वार्थ को संयत

रखने की चेष्टा की है।" यथार्थमें जीवनमें सामञ्जस्य स्थिरता और सात्विकता की अवस्थिति के लिए करुणामूलक प्रवृत्तियों का जागरण आवश्यक है। करुणा के प्रचार कार्य से देश के अन्य कल्याण के कार्यों का कोई विरोध नहीं है, अतः इस पुण्य प्रवृत्ति के प्रचार की ओर शासन का तथा अन्य समर्थ तथा विवेक पूर्ण संस्थाओं का उद्योग अविलम्ब आवश्यक है। इस कार्य में लगाया गया श्रम सर्वदा सुफल प्रदाता रहेगा। अमेरिका के पत्र "न्यूयार्क पोस्ट' (Newyork Post) के ये शब्द महत्व पूर्ण हैं —

"करुणा एक ऐसी वस्तु है, जिसे तुम सर्वथा दे ही नहीं सकते। वह तो वापिस आ हो जाती है।"[1] जब क्षितिजमें डाला गया करुणा बीज महान वृक्षके रूपमें परिणत होकर जगत के सताप को दूर करता है।

आज जो विश्वमें विपत्ति और संकटका नग्न नर्तन दिखाई पड़ रहा है, उसका यथार्थ कारण यही है कि लोगोंमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना प्रसुप्त हो गयी है, और उसके स्थानपर स्वार्थसाधनकी जघन्य एवं संकीर्ण दृष्टि जाग्रत हो उठी है।

इस सम्बन्धमें दयालु डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीके प्रयाग विश्व विद्यालयके उपाधि वितरणोत्सवके अवसरपर व्यक्त किए गए अन्तःकरणके उद्गार विशेष महत्त्वपूर्ण हैं —"मेरे विचारसे यह विषम अवस्था इसलिए पैदा हुई है, कि मानवने प्रकृति विजयकी धुनमें अपनी आत्माको भुला दिया और उसने दौलत इकट्ठी करनेमें स्नेहका परित्याग कर दिया है।" इसलिए विनाशसे बचनेके विषयमें उनका कथन है, "वह पथ है आत्म विजयका पथ। वह पथ है त्याग और सेवाका पथ। वह पथ है भारतकी प्राचीनतम संस्कृतिका पथ" (ता० १२-१२-१९४७)। यह आत्म विस्मृतिका ही दुष्परिणाम है, जो आज निरंकुश हो पशुबलमें प्रवृत्त हो,

---

[1] Kindness is one thing, which you cannot give away It always comes back

स्वार्थसाधना निमित्त मनुष्यके जीवनका भी मूल्य नहीं आंकते, और नरसंहारकारी कार्यों में भी निरन्तर लग रहते हैं। मांसभक्षी लोग तो कहते हैं—गायमें आत्मा नहीं है—(A cow has no soul) किन्तु स्वार्थी शिक्षित वर्गमें भी आत्मा नहीं मानता हुआ प्रतीत होता है। आज जिस उन्नतिका उच्च नाद सर्वत्र सुन पड़ता है, वह आत्म जागरण अथवा सच्ची आत्मरक्षा उन्नति नहीं है, किन्तु प्राणघातके कुशल उपायोंकी वृद्धि है। ड० इकबालकी उक्ति कितनी यथार्थ है —

'चाल चलने की हिकमतसे तरक्की देखा।
मौतका टालनेवाला कोई पैदा न हुआ ?"

मौतके मुँहसे बचा, अमर जीवन और आनन्दपूर्ण ज्योतिको प्रदान करनेकी श्रेष्ठ सामर्थ्य और उच्च कला अहिंसामें विद्यमान है।

इस अहिंसाकी साधनाके लिए इस प्राणीको अपनी अधोमुखी वृत्तियों को ऊर्ध्वगामिनी बनानेका उद्योग करना पड़ता है। साधारणतया जल नीचेकी ओर जाता है। उसे ऊंची जगह भेजनेमें विशेष उद्योग आवश्यक होता है उसी प्रकार जीवकी प्रवृत्तिको समुन्नत बनाना श्रम और साधनाके द्वारा ही साध्य होगा समधुर भाषणों, मोहक प्रस्तावों या बाह्य विशिष्ट वैभव प्रदर्शन से यह काम नहीं होगा।

श्री कालेलकर कहते हैं, " बिना परिश्रम किए हम अहिंसक नहीं बन सकेंगे। अहिंसाकी साधना बड़ी कठिन है। एक ओर पौद्गलिक भाव खींचतान करता है तो दूसरी ओर आत्मा सचेत बनता है। शरीर प्रथम विचार करता है आत्मा उसका चिंतन करता है। दूसरों का हित हृदयमें रहनसे आत्मा धार्मिक श्रद्धावान बनता है। " आजकी हिंसापूर्ण स्थिति में क्या कर्तव्य है इस सम्बन्धमें वे कहते हैं "आजकी मानवता का युद्धके दावानलसे मुक्तकरने का एक मात्र उपाय भगवान महावीर की अहिंसा ही है। "

भगवानने कहा है कि अहिंसक गृहस्थ मनसा-वाचा-कर्मणा संकल्पपूर्वक (Intentionally) त्रसजीवोंका (Mobile creatures) न तो स्वयं घात करता है, न अन्यके द्वारा घात कराता है एवं प्राणिघातकी दूर आन्तरिक प्रशंसा द्वारा अनुमोदना भी नहीं करता है। प्राथमिक साधक इस अहिंसा-अणुव्रतके रक्षार्थ मद्य, मांस और मधुका परित्याग करता है। इसीलिए वह शिकार भी नहीं खेलता और न किसी देवी-देवता के आगे पशु आदिका बलिदान ही करता है। कितनी निर्दयताकी बात है यह, कि अपने मनोविनोद अथवा पेट भरनेके लिए भयकी साकारमूर्ति, आश्रय-विहीन, केवल शरीररूपी सम्पत्तिको धारण करनेवाली हरिणी तकको अपने को शूर वीर मानने वाले शिकारी लोग अपने हिंसा के रसमें मारते हुए जरा भी नहीं सकुचाते और न यह सोचते कि इस दीन प्राणीके प्राणहरण करनेसे हमारी आत्मा कितना कलंकित होता जा रहा है।

अहिंसाव्रती के लिए जूआ (द्यूत) अनुचित तृष्णा तथा अनेक विकारोंका पितामह होनेके कारण सतर्कतापूर्वक प्राप्य अथवा भद्ररूपमें पूर्णतया त्याज्य है। पापोंके विकासकी नस नाड़ी जानने वालोंका तो यह अध्ययन है कि यह सम्पूर्ण पापोंका द्वार खोल देता है। अमृतचन्द्र स्वामी इसे सम्पूर्ण अनर्थों में प्रथम, पवित्रताका विनाशक, मायाका मन्दिर, चोरी और बेईमानीका अड्डा बताते हैं।

अहिंसाका आराधक द्यूतके समान चोरीकी आदत, वेश्या-सेवन, परस्त्री-गमन सदृश व्यसन नामधारी महा पापोंसे पूर्णतया आत्म रक्षा करता है। उसके स्मृतिपथमें ये व्यसन सदा शत्रुके रूपमें बने रहना चाहिए—

जूवा, आमिष, मदिरा, दारी, आखेटक, चोरी, परनारी ॥
ये ही सात व्यसन दुखदाई, दुरित मूल दुरगतिके भाई ॥

वह गृहस्थ स्थूल झूठ नहीं बोलता और न अन्यको प्रेरणा करता है। स्वामी समन्तभद्र इस प्रकारके सत्य सम्भाषणको भी अपनी मूल भूत अहिंसात्मक वृत्तिका संहार करनेके कारण असत्यका अंग मानते हैं, जो अपनी आत्माके लिए विपत्तिका कारण हो अथवा अन्य जीव को सङ्कटों से आक्रान्त करता हो। यहाँ सत्यकी प्रतिज्ञा लेनेवाले प्राथमिक साधक के लिए इस प्रकारके वचनालाप तथा प्रवृत्तिकी प्रेरणा की है जो हितकारी हो तथा वास्तविक भी हो। वास्तविक होते हुए भी अप्रशस्त वचनको त्याज्य कहा है।

महर्षियोंने साधकको दूसरे की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई और बिना दी हुई वस्तुको न तो ग्रहण करनेकी और न अन्यको देनेकी आज्ञा दी है। इसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

वह पापसंचयका कारण होनेसे स्वयं पर-स्त्री सेवन नहीं करता और न अन्य को प्रेरणा ही करता है। गृहस्थकी भाषामें इसे स्थूल ब्रह्मचर्य परस्त्रीत्याग अथवा स्व स्त्रीसंतोष व्रत कहते हैं।

इच्छाको मर्यादित करनेके लिए वह गाय आदि धन, धान्य रुपया पैसा, मकान, खेत, बर्तन, वस्त्र आदिकी आवश्यकताके अनुसार मर्यादा बांधकर उनसे अधिक वस्तुओंके प्रति लालसाका परित्याग करता है। इसमें इच्छाका नियन्त्रण होने के कारण इसे इच्छापरिमाण अथवा परिग्रह परिमाण व्रत कहते हैं।

पूर्वोक्त हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहके त्यागके साथ मद्य, मांस और मधुके त्यागको साधकके आठ मूलगुण कहे हैं। वर्तमान युगकी उच्छृङ्खल एवं भोगोन्मुख प्रवृत्तिको लक्ष्य में रखकर एक आचार्यने इस प्रकार उन मूल गुणोंकी परिगणना की है—

"मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और पीपल, ऊमर, बड़, कठूमर, पाकर, सदृश त्रस जीवयुक्त फलोंके सेवनका त्याग,

आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक अहिंसाके पथमें प्रवृत्त पंच परमेष्ठियों की स्तुति, जीवदया तथा पानीका वस्त्र द्वारा भली प्रकार छानकर पीना यह आठ मूलगुण हैं। अहिंसा की सच्ची साधना के लिए ये गुण आवश्यक हैं।"

जैसे मूलके शुद्ध और पुष्ट होनेपर वृक्ष भी सबल और सरस होता है, उसी प्रकार मूलभूत उपयुक्त नियमों द्वारा जीवन अलंकृत होने पर साधक मुक्तिपथमें प्रगति करना प्रारंभ कर देता है। मद्य और मांसकी सदोषता तो धार्मिक जगत्के समक्ष स्पष्ट है, किन्तु आजके युगमें अहिंसात्मक पद्धतिसे मक्खियोंको बिना विनाश किये जब मधु तैयार होता है, तब मधुत्यागको मूलगुणों में क्यों परिगणित किया है यह सहज शंका उत्पन्न होती है? स्व० गांधीजी इस मधुको अपना नियमित आहार बनाये हुए थे। हमने १९३७ में वापूसे मधु त्याग पर उनके वर्धा आश्रममें जब चर्चा की, तब उनने यही कहा था कि पहले जीववध पूर्वक मधु बनता था, अब अहिंसात्मक उपायसे वह प्राप्त होता है, इसलिए मैं उसका सेवन करता हूँ। इस विषयकी चर्चा जब हमने चारित्र चक्रवर्ती दिगम्बर जैन महर्षि आचार्य श्री शांतिसागर महाराजसे चलायी और प्रार्थना की, कि अहिंसा महाव्रती आचार्य होने के नाते इस विषयमें प्रकाश प्रदान कीजिये तब आचार्य महाराजने कहा था "मक्खी विकलत्रय जीव है, वह पुष्प आदि का रस खाकर अपना पेट भरती है और जो वमन करती है उसे मधु कहते हैं। वमन खाना कभी भी जिनेन्द्रके मार्गमें योग्य नहीं माना गया। उसमें सूक्ष्म जीव राशि पायी जाती है।" आशा है मधुकी मधुरतामें जिन साधर्मी भाइयोंका चित्त लगा हो, वे आचार्य परमेष्ठीके निर्णयानुसार अहिंसात्मक कहे जानेवाले मधुको वमन होनेके कारण, अनन्तजीव पिंडात्मक निश्चय कर सन्मार्गमें ही लगे रहेंगे।

रात्रिभोजनका परित्याग और पानी छानकर पीना—यह दो प्रवृत्तियां जैनधर्मके आराधकके चिन्ह माने जाते हैं। एक बार सूर्यास्त होते समय

मद्रासमें अपना सार्वजनिक भाषण बन्दकर रात्रि हो जानेके भयसे गांधीजी जब हिन्दूके सम्पादक श्रीकस्तूरी स्वामी आयंगरके साथ जानेको उद्यत हुए, तब उनकी यह प्रवृत्ति देख बड़े-बड़े शिक्षितोंके चित्तमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि गांधीजी अवश्य जैनशासनके अनुयायी हैं। जैसे ईसाइयोंका चिन्ह उनके ईश्वरीय दूत हजरत मसीहकी मौतका स्मारक क्रॉस पाया जाता है अथवा सिक्खोंके केश, कृपाण, कड़ा आदि बाह्य चिन्ह हैं उसी प्रकार अहिंसापर प्रतिष्ठित जैनधर्म ने करुणापूर्वक वृत्तिके प्रतीक और अवजन्यतत्त्व रात्रिभोजन त्याग और अनछने पानीके त्याग को अपनाया है। वैदिक साहित्यके अन्यतम मान्य ग्रंथ मनुस्मृतिमें मनु लिखते हैं—"दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।"

उपर्युक्त दोनों नियमोंमें अहिंसात्मक प्रवृत्तिके साथ निरोगताका तत्त्व निहित है। सन् १८९१ की जुलाईके "जैनगजट" में पंजाबका एक संवाद छपा था कि एक व्यक्तिके पेटमें अनछने पानीके साथ छोटा सा मेंढकका बच्चा घुस गया। कुछ समयके अनन्तर पेटमें भयंकर पीड़ा होने लगी, तब ऑपरेशन किया गया और २५ तोले वजनका मेंढक बाहर निकला। आज जो रोगोंकी अमर्यादित वृद्धि हो रही है, उसका कारण यह है, कि लोगोंने धर्मकी दृष्टिसे न सही तो स्वास्थ्य-रक्षणके लिए रात्रि भोजनका परित्याग, अनछना पानी न पीना, जिन वस्तुओंमें त्रस जीव उत्पन्न हो गए हों या जो उनकी उत्पत्ति के लिए बीजभूत बन चुके हैं, ऐसे पदार्थोंके भक्षणका त्याग पूर्णतया भुला दिया है। जीभकी लोलुपता और फैशनकी मोहकता के कारण इन बातोंको भुला देनेमें ही अपना कल्याण समझा है। आजकलके बड़े और प्रतिष्ठित माने जानेवाले और अहिंसाके साधकोंकी श्रेणीमें बैठनेवाले लक्ष्मीजी और आधुनिक आधिभौतिक ज्ञानके कृपापात्र पूर्वोक्त बातोंको ढकोसला समझ यथेच्छ प्रवृत्ति करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारी असत् प्रवृत्तियोंका घड़ा भरनेपर प्रकृति अपना भयंकर दण्ड-प्रहार

किये बिना न रहेगी और तब पश्चात्ताप मात्र ही शरण होगा।

पं० आशाधरजीने सागार-धर्मामृतमें आयुर्वेद शास्त्र तथा अनुभव के आधारपर लिखा है कि रात्रि-भोजनमें आसक्ति और रागकी तीव्रता होती है तथा कभी-कभी अज्ञात अवस्थामें अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाले विषैले जीव भी पेटमें पहुँच विचित्र रोगोंको उत्पन्न कर देते हैं। जूं अगर पेटमें चली जाय तो जलोदर हो जाता है, मक्खीसे वमन, बिच्छू से तालु रोग, मकड़ी भक्षणसे कुष्ठ आदि रोग हो जाते हैं। अखबारी दुनियावालोंको इस बातका परिचय है कि कभी-कभी भोजन पकाते समय छिपकली, सर्प आदि विषैले जन्तुओंके भोजनमें गिर जानेके कारण उस जहरीले आहार पानके सेवन करनेपर कुटुम्ब के कुटुम्ब मृत्युके मुखमें पहुँच गये हैं।

जो इन्द्रियलोलुप हैं वे तो सोचा करते हैं कि भोजन कैसा भी करो दिलभर साफ रहना चाहिये। मालूम होता है ऐसे ही विचारोंका प्रति निधित्व करते हुए एक शायर कहता है—

> "नासेह शराब पीनेसे काफिर बना मैं क्यों ?
> क्या डेढ़ चुल्लू पानीमें ईमान बह गया ?"

ऐसे विचारवाले गम्भीरतापूर्वक अगर सोच सकें, तो उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि सात्विक, राजस और तामस आहारके द्वारा उसी प्रकार के भावोंकी उत्पत्तिमें प्रेरणा प्राप्त होती है। आहारका हमारी मन स्थितिसे साथ गहरा सम्बन्ध है।

गांधीजीने अपनी आत्मकथामें लिखा है "मनका शरीरके साथ निकट सम्बन्ध है। विकारयुक्त मन विकार पैदा करनेवाले भोजनकी ही खोजमें रहता है। विकृत मन नाना प्रकारके स्वादों और भोगोंको ढूँढ़ता फिरता है और फिर उस आहार और भोगोंका प्रभाव मनके ऊपर पड़ता है। मेरे अनुभवने मुझे यही शिक्षा दी है कि जब, मन संयमकी ओर

सकता है, तब भोजनकी मर्यादा और उपवास खूब सहायक होते हैं। इनकी सहायताके बिना मनको निर्विकार बनाना असम्भव-सा ही मालूम होता है।" (पृ० ११२-१३)

अपने राजयोगमें स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं—"हमें उसी आहारका प्रयोग करना चाहिए जो हमें सबसे अधिक पवित्र मन दे। हाथी आदि बड़े जानवर शान्त और नम्र मिलेंगे। सिंह और चीतेकी ओर जाओगे तो वे उतने ही अशान्त मिलेंगे। यह अन्तर आहार भिन्नताके कारण है।" महाभारतमें तो यहातक लिखा है कि—आहार शुद्धि न रखनेवालेके तीर्थ यात्रा, जप तप आदि सब विफल हो जाते हैं—

कुछ लोग मांसभक्षणके समर्थनमें यह तर्क करते हुए कहने लगते हैं कि मांस भक्षण और शाकाहारमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। जिस प्रकार प्राणधारीका अंग वनस्पति है उसी प्रकार मांस भी जीवका शरीर है। जीव शरीरत्व दोनोंमें समान है। वे यह भी कहते हैं कि अण्डा भक्षण करना और दुग्धपानमें दोषकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। जिस अण्डेमें बच्चा न निकले उसे वे unfertilised egg—निर्जीव अण्डा कहकर शाकाहारके साथ उसकी तुलना करते हैं।

यह दृष्टि अतात्त्विक है। मांसभक्षण क्रूरताका उत्पादक है वह सात्त्विक मनोवृत्तिका संहार करता है। वनस्पति और मांस के स्वरूपमें महान् अन्तर है। एकेन्द्रियजीव जल आदिके द्वारा अपने पोषक तत्वका ग्रहणकर उसका खल भाग और रस भाग रूप ही परिणमन कर पाता है।

---

[१] कच्चे अथवा पके मांसमें भी हिंसा दोष पाया जाता है, कारण उसमें सूक्ष्मजीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है।
स्वयं मरे भैंसा, बैल आदिका मांस भक्षण करना भी दोषयुक्त है
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ।

रुधिर, मांस आदि रूप आगामी पर्यायें जो अनन्त जीवों का कलवररूप होती हैं, वनस्पतिमें नहीं पायी जाती। इसलिए उनमें समानता नहीं कही जा सकती। दूसरी बात यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अत्यन्त अशुद्ध *शुक्र शोणित रूप उपादानका मांस रुधिर आदिरूप शरीरके* रूपमें परिणमन होता है। ऐसी घृणित उपादानता वनस्पतिमें नहीं है। यह ठीक है कि प्राणांग होना अन्न समान मांस भी है, किन्तु दोनोंके स्वभाव में समानता नहीं है। इसीलिए साधकके लिए अन्न भोज्य है और मांस अथवा अण्डा सदृश पदार्थ सर्वथा त्याज्य है। जैसे स्त्रीत्वकी दृष्टिसे माता और पत्नीमें समानता कही जा सकती है, किन्तु भोग्यताकी अपेक्षा पत्नी ही मान्य कही गयी है, माता नहीं।

यूरोपके मनीषी महात्मा टाल्सटाय ने मांस भक्षणके विषयमें कितना प्रभावपूर्ण कथन किया है-"क्या मांस खाना अनिवार्य है? कुछ लोग कहते हैं-यह तो अनिवार्य नहीं है, लेकिन कुछ बातोंके लिए जरूरी है। मैं कहता हूँ कि यह जरूरी नहीं है। मांस खानेसे मनुष्यकी पाशविक वृत्ति बढ़ती है काम उत्तेजित होता है व्यभिचार करने और शराब पीनेकी इच्छा होती है। इन सब बातोंके प्रमाण सच्चे और शुद्ध सदाचारी नवयुवक, विशेष कर स्त्रियाँ और तरुण लड़कियाँ हैं, जो इस बातको साफ साफ कहती हैं कि मांस खानेके बाद कामकी उत्तेजना और अन्य पाशविक वृत्तियाँ अपने आप प्रबल हो जाती हैं।" वे यहाँ तक लिखते कि "मांस खाकर सदाचारी बनना असम्भव है। ऐसी स्थिति में तो चरित्रवान् और महापुरुष माने जानेवाले व्यक्तिको टाल्सटाय जैसे विचारक के मतसे निरामिषभोजी होना अत्यन्त आवश्यक है।

वैज्ञानिकोंने इस विषयमें मनन करके लिखा है कि मांस आदिके द्वारा बल और निरोगता सम्पादन करनेकी कल्पना ठीक वैसी ही है जैसे चाबुकके ओरसे सुस्त घोड़ेको तेज करना। बर्नार्डशा ने लिखा है "मैं यह

बात स्पष्टतया कहता हूँ कि मदिरा तथा मृत शरीरोंका भक्षक मानव एस श्रेष्ठ काय नहीं कर सकता जिसकी क्षमता उसमें विद्यमान रहती है"[1]

मांससेवी में क्रूरताकी अधिक मात्रा होती है। सहनशीलता, जितेन्द्रियता और परिश्रम शीलता उसमें कम पायी जाती है। मि० ग्रेस महाशय नामक विद्युत् शास्त्रज्ञने यह सिद्ध किया है कि फल और मेवामें एक प्रकारकी बिजली भरी हुई है, जिससे शरीरका पूर्णतया पोषण होता है। 'न्यूयार्क ट्रिब्युन के सम्पादक श्री हारेस लिखते हैं—' मेरा अनुभव है कि मांसाहारीकी अपेक्षा शाकाहारी दस वर्ष अधिक जी सकता है। अध्यापक लारेंसका अनुभव है— 'मांसाहारसे शरीरकी शक्ति और हिम्मत कम होती है। यह तरह तरहकी बीमारियोंका मूल कारण है। शाकाहारके साथ निर्बलता, भीरुता तथा रोगोंका कोई सम्बन्ध नहीं है।" ('मांसाहारसे हानियां' से उद्धृत)।

कोई हिन्दू हितचिन्तक हिन्दू जातिको बलिष्ठ बनानेके लिए मांस भक्षणके लिए प्रेरणा करते हैं। वे यह भूल जाते थे कि मांस भक्षणके द्वारा वे विवेकी मनुष्यको पशुजगत्के निम्नतर स्तरपर उतारते हैं। मांसभक्षण न करनेवाले अहिंसक महापुरुषोंने अपने पौरुष और बुद्धिबलके द्वारा इस भारतके भालको सदा उन्नत रखा है। अहिंसा और पवित्रताकी प्रतिमा वीर शिरोमणि जैन सम्राट चन्द्रगुप्तने सिल्यूकस जैसे प्रबल पराक्रमी मांसभक्षी सेनापतिको पराजित किया था। पराक्रम का आत्माका धर्म न मानकर शरीर सम्बन्धी विशेषता समझनेवाले ही भक्ष्याहारका माहात्म्य बताते हैं। शौर्य एवं पराक्रमका विकास जितेन्द्रिय और आत्म वशीमें अधिक होगा। राष्ट्र उत्थाननिमित्त जितेन्द्रियता मद्यत्याग संगठन

[1] I flatly declare that a man fed on whisky and dead bodies cannot do the finest work of which he is capable

'Leaders of Modern Thought p 36

आदि सद्गुणोंको जागृत करना होगा। मनुष्यताका स्वयं सहार कर हिंसक पशुवृत्तिको अपनानेवाला कैसे साधनाके पथमें प्रविष्ट हो सकता है? इस स्वार्थी और विषयलोलुपीके पास दिव्य विचार और दिव्य सम्पत्तिका स्वप्नमें भी उदय नहीं होता। अतएव पवित्र जीवन के लिए पवित्र आहारपान अत्यन्त आवश्यक है।

कोई २ मांसाहार के समर्थक कहते हैं सारे विश्वमें जीवो जीवस्य भक्षणम् —जीव का भक्षक जीव है इस नियमका प्रसार पाया जाता है। अत मनुष्य द्वारा मांसाहार अनुचित नहीं है।

य तार्किक इस बातको भूल जाते हैं कि समस्त प्राणियोंमें मनुष्यका दर्जा बहुत बड़ा माना गया है। ईश्वरभक्त तो उसे परमात्मा की श्रेष्ठ कृति कहते हैं। श्रेष्ठ बननेवाले मानवका कर्तव्य है कि वह पशु जगत् की निकृष्ट प्रवृत्ति का अनुकरण न करके अपने विवेक के प्रकाशमें कार्य करे। पशुओंका अन्धानुकरण करने वाला मानव न्याय की भाषा में क्या पशु न कहा जायगा? विवेकीमानव विचारता है कि सभी जीवों का अपना २ जीवन प्यारा है। इतना प्यारा कि उसे सुवर्ण का मेरु प्रदान कर दिया जाय और समस्त भूतल का अधिपति बना दिया जाय, तो भी वह अपने प्राण रक्षण को अधिक मूल्यवान मानेगा। तत्त्व की बात यह है, कि जिसके हृदयमें अहिंसाका भाव उत्पन्न हो जाता है, वह सभी जीवों के प्रति बन्धुत्व धारण करता है।

मांसभक्षी तथा सुरापायी पश्चिममें भी अनेक व्यक्तियों तथा संस्थाओं के द्वारा जीवरक्षणका स्तुत्य कार्य किया जाता है। वे व्यक्तिभर प्रचार द्वारा मांस निषेधका कार्य कर रहे हैं और निर्दोष निरपराध जीवों का रक्षण भी करते हैं। आश्चर्य है कि सन्तोंकी भूमि कहा जाने वाला भारत अंग्रेजी शासनके अभिशापसे मुक्त होनेपर जीववधके पथ में अगुआ बननेका उद्यम करता हुआ तनिकभी परितापका अनुभव नहीं करता और अपने को अहिंसावादी घोषित करता है। भारतीय

नहीं पहुँचाएगा ? केन्द्रीयशासन द्वारा पालित हिंसा का पूर्ण वर्णन न विदित होने पर विचारवान मानव के रोंगटे खड़े हुए बिना न रहेंगे ?

मुसलमान तथा अंग्रेज शासकोंके कालमें न होने वाली हिंसाका मार्ग आजकी अहिंसामूर्ति प्रजाकी सरकार अपना रही है, जिसकी बागडोर मुख्यत हिन्दू भाइयों के अधीन है। इंग्लैंडके दयाप्रेमी लोग भारत सरकारकी हिंसामय प्रवृत्ति देखकर घबड़ा उठे हैं। रायटरकी सवाद समितिने लंदन से ता० ६ फरवरी १९५५ का यह सवाद प्रसारित किया कि ब्रिटिश जीवरक्षक समितिओंने भारत सरकार से अनुरोध किया है कि भारतसे बदरोंका बाहर भेजा जाना बन्द किया जाय कारण गत दो वर्षोंमें एक लाख बंदर लदनके बदरगाहसे होते हुए अमेरिका भेजे गए। उनमेंसे ७२ प्रतिशत तो वैज्ञानिक प्रयोगशालामें मारे गए और शेष 'राकेट' की शोधके काममें लाए गए। इस सबधमें लदन स्थित भारत के हाई कमिश्नरसे मजदूरदलके सदस्य पीटर फ्रीमैन महाशयके नेतृत्वमें एक शिष्ट मडल मिला। (अंग्रेजी दैनिक हितवाद २ २ ५५)

अशोक के धर्मचक्र को अपनी राजमुद्रा का चिन्ह बनाने वाली गांधी जी का नाम अपनवाली और अहिंसा का विश्व को उपदेश देनेवाली भारत की सरकारका यह कर्तव्य है कि वह शीघ्र से शीघ्र जीव वधकारी कार्यों से अपना हाथ अलग करे, कारण शास्त्रों में ऐसा वर्णन आता है कि हिंसा का आश्रय लेने वाले व्यक्ति अथवा समाज का पतन अवश्यं भावी है। भारत सरकार की जीववध को प्रेरणा प्रदान करने वाली तथा उससे राजकोष की वृद्धि करने की नीति प्रणाली को देखकर भगवान बाहुबलि स्वामी के महाभिषेक के लिए जाते हुए सन १९५३ के मार्च मास में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने हमसे कहा था, "भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया इसका हमें सतोष है, किन्तु स्वतंत्र देशके अधिकारी लोग जो जीववधको प्रेरणा दे रहे हैं, तथा उसके द्वारा राज्यके लिए कमाई कर रहे हैं यह अच्छा नहीं है। इसका

फल अच्छा नहीं निकलेगा।' जो लोग ईश्वर को विश्व-निर्माता मानते हुए भी उसकी सन्ततिका नाश करते हैं, वे क्या बन्धु-घातके कलंकसे मलिन नहीं होते हैं? श्री टी एल वस्वानी कहते हैं, "पक्षी या पशुका प्रेम न करना मेरे लिए प्रभुका प्रेम न करना है क्योंकि पशु पक्षी भी उसके इसी तरह बच्चे हैं जैसे मानव प्राणी।"

विषय लोलुपी लोग कभी २ यह कह बैठते हैं, "ईश्वर ने पशुओंको हमारे भोजन के हेतु ही बनाया है, पशुओंमें तो आत्मा है ही नहीं,' ऐसे स्वार्थी जीवोंकी शैलीका आश्रय ले यह भी कोई कह बैठेगा, कि हमारे इष्ट व्यक्तियोंके सिवाय अन्य मनुष्योंमें भी आत्मा नहीं है। ऐसही स्वार्थी विचार वालोंका प्रतिनिधित्व करता हुआ फ्रांसका दार्शनिक मालिब्रान्श हब्शियों के विषयोंके विषयमें कहता है, "आदमी इस बातको अच्छी तरह नहीं विचार सकता है कि बुद्धिमान परमेश्वर आत्माको— अविनाशी आत्माको पूर्णतया काले रंगके शरीरमें स्थान देगा। यह सोचना पूर्णतया असम्भव है कि ये हब्शी मानव प्राणी हैं।"

जिस प्रकार फ्रांसके विद्वान् की उक्त बात अयथार्थ तथा उन्मत्त प्रलाप तुल्य लगती है उसी प्रकार पशुओंके प्रति बंधुत्व का भाव भुला उनको भोज्य मानने का कार्य है। स्वार्थपरताकी चरम आलोक में लगाने पर जीव मानव जीवनकी महत्ताको भुला राक्षस का आदर्शमान उसके पथका अनुसरण करता है। उस समय यह अपनी स्वार्थपूर्ति में बाधक बनने वालोंके प्रति निकृष्टतम उपायों का आश्रय करता है। योद्धा बनकर अगणित मानवोंका ध्वंस करता है। सी ई एम जोड नामक परिचमके प्रकाण्डविद्वान् ऐसीवृत्तिको एक प्रकारका साम्प्रदायिक पागलपन कहते हैं।

हिंसा तथा जीववधमें निरत रहने वाली आत्मा इतनी कठोर और निर्दय हो जाती है, कि उसमें मानवताका नाम निशान भी नहीं रहता है।

आजके यांत्रिक विकास और विलासिताके युगमें अपनी झूठी शान बढ़ानेके लिए जो मोहक सामग्री बजारमें बिकने आती है, उसमें अगणित जीवोंका घात हुआ करता है। बड़े २ दयाप्रेमी परिवारोंमें जल धारण करनेवाले भी अपनी शानको बढ़ाने वाली वस्तुओंको खरीद कर उस हिंसाके पातकमें हाथ बटाते हैं। अ० भा० गोहत्या विरोध समितिके मन्त्रीने लिखा था, देशमें चमड़ेके बड़े-बड़े कारखाने बढ़िया जूते तथा अन्य सामान बनानेके लिए अनुमान तीस लाख कतल किए हुए गौ वंशकी खालें उपयोगमें लाते हैं। इस हिसाबसे आज भारतमें एक करोड़ दस लाख गौ वंशका संहार प्रति वर्ष होता है। अंग्रेजी राज्यमें जब भारत अखंड था, वार्षिक एक करोड़ गौ हत्याका अनुमान था। अनुमानसे एक तिहाई गोवंश पाकिस्तानमें रहनेके कारण यदि अंग्रेजी राज्य जितना भी गोवध हो, तो ६७ लाख होना चाहिए पर होता है ११० लाख या अंग्रेजी राज्यसे दो गुणा के करीब''।

अपने प्रमाद तथा विषय लोलुपतादिके कारण रोगी बनने वाले लोगोंको हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ बनाने के लिए आज अगणित जीवों का वध करके उनका रक्त मांसादि दिया जाता है। सच्ची नीरोगताके हेतु मनुष्यको प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए जीव सतापकारी कार्यों से विरत होना चाहिए। मूलाराधना टीकामें लिखा है कि "अन्य प्राणियोंको संताप प्रदान करनेके कार्यमें निरन्तर उद्योग करनेसे तथा असाता वेदनीय कर्मके उदयसे जीव बहुधा रोगी हुआ करता है।" इस नियमके अनुसार सब जीवोंको सुख पहुँचानेसे स्वस्थताकी उपलब्धि होना स्वाभाविक है।

पायथागोरस नामक यूनान देशके विद्वान्‌के ये शब्द मूक जीवोंके रक्षणके लिए अधिक प्रेरणादायक प्रतीत होते हैं। वह कहता है, "ऐ नरवर मनुष्यों! अपने शरीरको घृणित आहारसे अपवित्र करना बंद करो जगत्‌में तुम्हारे लिए रस भरी फलराशि है। जिनके बोझसे शाखाएँ झुक गई हैं; सुमधुर द्राक्षाओं से लदी हुई लताएँ हैं, रसीली वनस्पतियाँ

हैं अनेक प्रकार के अन्न हैं, जिन्हें आग के द्वारा मृदु एवं सुपाच्य बनाया जा सकता है। पावक दूध है। उदार पृथ्वी माता विविध भाँति की विपुल खाद्य सामग्री देती है, तथा रक्तपात के बिना मधुर एवं शक्तिप्रद भोजन देती है। नीची श्रेणीके प्राणी अपनी मूर्ख भूख को मांस द्वारा शांत करते हैं, परन्तु सभी एसे नहीं हैं। घोड़ा, गाय, बकरी, भेड़, बैल घास पर ही जीवित रहते हैं। अरे मरणशील मानवो ! तुम मांसको छोड़ दो। मांसाहार के वार्थों पर ध्यान दो। मारे गए बैलके लोथड़े जब तेरे सामने आवें, तब यह समझ और अनुभवकर कि तू अन्न फल पैदा करने वालोंको खाने जा रहा है" (हिंसा विरोध जनवरी १६५६)

जैनधर्ममें प्राण जाने पर भी मांसाहार ग्रहण का निषेध किया गया है। तत्वज्ञ इस स्थिति से सुपरिचित हैं कि प्राण जाने पर आत्मा का क्षय नहीं होता। आत्मा तो अविनश्वर है। उसको एक शरीर छूटकर नवीन शरीर प्राप्त होता है। जीव रक्षा पूर्वक प्राण परित्याग द्वारा यह आत्मा आध्यात्मिक जागृति तथा अलौकिक समृद्धि का केन्द्र बनती है। इसलिए अहिंसाकी साधना के लिए मांसका त्याग अत्यन्त आवश्यक कहा गया है।

कुछ लोग कहते हैं जैनधर्ममें दुग्धसेवन का त्याग नहीं बताया गया है दूध और मांस तो समान हैं। यह दृष्टि भ्रान्ति पूर्ण है। दूध रसावस्था को प्राप्त अन्नादि का परिणमन विशेष है। आयुर्वेद शास्त्र कहता है कि 'भोजन पहले रस रूपमें परिणत होता है, तदनन्तर वह रक्त इसके पश्चात् मांस, फिर मेद फिर हड्डी बनती है।' शास्त्रकार कहते हैं 'गायके शरीरमें दूध है तथा मांस भी है किन्तु वस्तु के स्वभावकी विचित्रता है कि दूध शुद्ध है और मांस अपवित्र है। सर्प के मस्तक पर विद्यमान मणि सर्प के जहर का निवारण करता है, किन्तु उसके कण्ठमें रहने वाला विष प्राणघातक होता है। विष वृक्षके पत्ते जीवनदान देते हैं और उसकी

[1] रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततः च। अष्टांगहृदय ६२, शरीरस्थान

जड़ प्राणघात करती है यद्यपि दोनों शुक्रके ही अंग हैं। इसी प्रकार दूध और मांस का हाल है। दूध की थैली दूसरी रहती है। अतः मांस हेय है, किन्तु दुग्ध ग्राह्य है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दूध के दुहने से गाय का शरीर क्षीण नहीं होता है। यदि दूध न दुहा जाय, तो उसे पीड़ा का अनुभव होता है। दूध दुहनेसे गायको शान्ति मिलती है। गाय घास, खली आदि जो पदार्थ खाती है, वे ही गोरसरूप परिणत होते हैं। इस कारण उन पदार्थों की गंध दूधमें पाई जाती है। ये घास मांसके विषयमें चरितार्थ नहीं होती। जब शिशु अस्वस्थ होता है, तब माता को औषधि देनेसे उसका दूध पीनेवाला बच्चा नीरोग होता है। यदि दुग्ध ग्रहण में मांसका दोष जबरदस्ती मारता जाय, तो मनुष्यको शिशु कालमें माताका दुग्ध पान करनेके कारण मांसाहारी मानना पड़ेगा किन्तु अनुभव बताता है कि मनुष्योंके दांतों की रचना आदि मांसाहारी प्राणियोंके समान नहीं है। जिस प्रकार बन्दर शाकाहारी है। उसी प्रकार मनुष्य भी शाकाहारी है। दूध सेवनमें मांसाहारकी कल्पना पूर्णिमाको अमावस्या मानने सदृश है।

भोजन शास्त्र की दृष्टिसे दूधको सात्त्विक आहार माना गया है, किन्तु मांस तामसी आहार है। जिस प्रकार आम आदिके वृक्षोंमें लगनेवाले फल रस भरे होते हैं, उनमें रुधिररूप परिणति नहीं पाई जाती है, उसी प्रकार गायके द्वारा ग्रहण किया गया भोजन विशेष थैलीमें पहुँचकर धवलवर्णवाले रसरूप को धारण करता है। अतः दूधकी शुद्धता सुनिश्चित है। जैन शास्त्रोंमें कहा है कि अड़तालीस मिनिटके भीतर दूध का अच्छी तरह उष्ण करना चाहिए, अन्यथा उसमें सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं और उस दूधके ग्रहण करने पर मांसका दूषण आता है।

अहिंसा के प्राथमिक साधकको जीवनचर्या इतनी संयत हो जाती है, कि वह लोक तथा समाजके लिए भार न बन, भूषण-स्वरूप होता है। वह सूक्ष्म दोषोंका परित्याग तो नहीं कर पाता किन्तु राज अथवा समाज द्वारा दण्डनीय स्थूल पापों से बचता है। अपने सत्वज्ञानके आदर्श की नव-स्मृति और नव स्फूर्ति निमित्त वह जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा सदैव करता है। वह मूर्तिके अवलम्बनसे उस शांति, पूर्णता और पवित्रताके आदर्शका स्मरण कर अपने जीवनको उज्ज्वल बनानेका प्रयत्न करता है। उसकी पूजा मूर्ति (Idol) की नहीं, आदर्शकी, (Ideal) पूजा रहती है इसलिए मूर्तिपूजाके तथा कथित दोष उस साधकके उज्ज्वल मार्गमें बाधा नहीं पहुंचाते।

अपने दैनिक-जीवनमें लगे हुए दोषोंकी शुद्धिके लिए वह सत्पात्रों को सदा आहार, औषधि, शास्त्र तथा अभयदान देकर अपनेको कृतार्थ मानता है। उसका विश्वास है कि पवित्र कार्योंके करनेसे सम्पत्तिका नाश नहीं होता; किन्तु पुण्यके क्षयसे ही उसका विनाश होता है।

आचार्य कहते हैं, "ज्ञानदानसे जीवको ज्ञानका लाभ होता है। अभय दानसे निर्भीकता प्राप्त होती है। आहारदान से सुख मिलता है। औषधिदानसे निरोग शरीर होता है।"[1]

अहिंसाव्रती गृहस्थ के विषयमें सागार धर्मामृतमें लिखा है— "आदर्श गृहस्थ न्यायपूर्वक धनका अर्जन करता है, गुणी पुरुषों एवं गुणोंका सम्मान करता है, वह प्रशस्त और सत्यवाणी बोलता है, धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थका परस्पर अविरोध रूपसे सेवन करता है। इन पुरुषार्थोंके योग्य स्त्री, स्थान, भवनादिका धारण करता है, वह लज्जाशील, अनुकूल आहार विहार करनेवाला, सदाचारको अपनी जीवन

---

[1] ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधि भेषजाद्भवेत्॥

निधि माननेवाले सत्पुरुषोंकी संगति करता है, हिताहितके विचार करनेमें वह तत्पर रहता है, वह कृतज्ञ और जितेन्द्रिय होता है, धर्मकी विधिको सदा सुनता है, दयासे द्रवित अन्तःकरण रहता है, पापसे डरता है। इन विशेषताओंसे सम्पन्न व्यक्ति आदर्श गृहस्थकी श्रेणीमें समाविष्ट होता है।"

कोई-कोई व्यक्ति यह सोच सकते हैं कि जीवन एक संग्राम और संघर्षकी स्थितिमें है, उसमें न्याय अन्यायकी मीमांसा करनेवालेकी सुख पूर्ण स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए जैसे भी बने स्वार्थ-साधनाके कार्यमें आगे बढ़ना चाहिए।

यह मार्ग मुमुक्षुके लिए आदर्श नहीं है। वह अपने व्यवहार और आचारके द्वारा इस प्रकारसे जगत्‌का निर्माण करना चाहता है, जहाँ ईर्षा, द्वेष, मोह, दंभ आदि दुष्ट प्रवृत्तियोंका प्रसार न हो। सब प्रेम और शान्तिके साथ जीवन ज्योतिको विकसित करते हुए निर्वाणकी साधनामें उद्यत रहें, यह उसकी हार्दिक कामना रहती है। जघन्य स्वार्थों पर विजय पाये बिना उन्नतिकी कल्पना एक स्वप्नमात्र है। जघन्य स्वार्थ और वासना पर जबतक विजय नहीं की जाती, तबतक आत्मा यथार्थ उन्नतिके पथपर नहीं पहुँचता। विश्वकवि रवीन्द्र ठाकुरके ये उद्‌गार महत्वपूर्ण हैं, "वासना को छोटा करना ही आत्माको बड़ा करना है।" प्राच्य प्रधान पश्चिमको लक्ष्य बनाते हुए वे कहते हैं, 'यूरोप मरनेको भी राजी है, किन्तु वासनाको छोटा करना नहीं चाहता। हम भी मरनेको राजी हैं, किन्तु आत्माको उसकी परमगति परम सम्पत्ति वंचित करके छोटा बनाना नहीं चाहते।"'

अहिंसाके पथमें प्रवृत्त मनुष्यकी तो बात ही क्या, होनहार उज्ज्वल भविष्यवाले पशुओं तकने असाधारण आत्म विकास और संयम का परिचय दिया है। भगवान् महावीरके पूर्व भवोंपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है, कि एक बार वे भयंकर सिंहकी पर्यायमें थे और एक मृगको मारकर भक्षण करनेमें तत्पर ही थे, कि अमितकीर्ति और अमितप्रभ नामक

मय जीवनके लिए आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका परित्याग करना चाहिए, जिससे अनावश्यक पदार्थोंके द्वारा रागद्वेषादि विकार इस आत्मा की शान्तिका भंग न करें। करुणा के पालनका अभ्यास आन्तरिक प्रेरणाके द्वारा सुफल दिखाता है। बीमार व्यक्ति अपने चिकित्सककी आज्ञाके अनुसार मजबूर ही जीवनकी ममताके कारण कभी कभी बड़े बड़े महामार्योंकी त्यागपूर्ण वृत्तिका स्मरण कराता है। किन्तु, इसमें यथार्थ उनकी निर्मलता और शान्तिका सद्भाव नहीं पाया जाता। भोगोंकी निःसारता और मेरा आत्मा ज्ञान तथा आनन्दका पुंज है, उसे परावलम्बन की आवश्यकता नहीं है, इस श्रद्धाकी प्रेरणासे प्रेरित हुआ त्याग अपना विशेष स्थान रखता है।

पुण्य जीवन तथा परावलम्बन-त्याग द्वारा जीव शांति प्राप्त करता है बाह्य वस्तुओं की वृद्धि द्वारा इस जगत् में न जीवको शांति मिलती है और न राष्ट्रमें ही आनन्दकी स्थायी अवस्थाका अवतरण हो सकता है। अपनी आवश्यकताओं को न्यून बनाते हुए सतोषामृत का पान करने वाला मानव स्वयं सुखी होता है और राष्ट्रमें शांति तथा आनन्द के अभिवर्धन में अमूल्य योग देता है। न्यूनतम आवश्यकता वाले दिगम्बर जैनमुनि रहते हैं जो अपने हाथ रूपी पात्रमें आहार लेते हैं। प्राणीमात्र पर दया करते हैं। जीव दयार्थ मयूरपिच्छ रखते हैं और शौचके हेतु जल भरा कमण्डलु रखते हैं तथा धन धान्य स्त्रीपुत्रादिक परिग्रहका परित्याग करते हैं। ऐसी उत्कृष्ट अहिंसामय जीवनचर्या वाले उज्वचरित्र वाले महामुनि जगतमें अगुलियों पर परिगणित किए जा सकते हैं। वे मन, वचन, काय, कृत कारित, अनुमोदना, समरंभ, समारंभ, आरंभ द्वारा क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषाय का त्याग करते हैं। इन १०८ कारोंसे दोषों का त्याग करनेके कारण उनके आगे पूज्यताके घोतक १०८ लिखा करते हैं। मालामें १०८ मणियोंके रखने का भी यही लक्ष्य है कि दोषागमन के १०८ द्वारों का रोका जाय।

उस उच्च अहिंसा महाव्रतकी स्थिति के योग्य जब तक गृहस्थ में

मनोबलका निर्माण नहीं होता है तब तक वह गृहस्थ की एकादश प्रतिज्ञाओं का पालन करता है गृहस्थके कर्तव्यों तथा मुनियोंकी व्यवस्थित चर्या का विशद वर्णन जैन आचारग्रन्थों में पाया जाता है। उस वैज्ञानिक वर्णनको देखकर प्रत्येक न्यायमार्गी समीक्षक यह बात शिरोधार्य करेगा कि अहिंसाका परिपूर्ण, सुव्यवस्थित तथा हृदयग्राही वर्णन जैन ग्रन्थोंमें है तथा उसके अनुसार साधक यथाशक्ति प्रवृत्ति भी करते हैं वैसी बात अन्यत्र नहीं है।

वास्तवमें संस्कृति पदका आशय यही अहिंसात्मक वृत्ति है। इस विषयमें यह कथन ध्यान देने योग्य है। संस्कृति शब्दका विपरीत रूप विकृति है। संस्कृति स्वभाव है, तो विकृतिको विभाव मानना होगा। अतः वीतरागता, वीतमोहता वीतद्वेषता, वीतलोभता का जितना २ अंश विद्यमान होगा उतनी २ मात्रामें सच्ची संस्कृति होगी। राग, द्वेष, मोह आदिका सद्भाव संस्कृति के अभाव का दूसरे शब्दों में विकृतिके अस्तित्वका ज्ञापक होगा। अतः जहां करुणाका सद्भाव रहता वहां ही संस्कृति का जीवन होगा। क्रूरता को निवासभूमीको संस्कृतिका समाधि स्थल कहना उचित होगा। संस्कृत को परिशुद्धता (refinement) कहते हैं। अहिंसात्मक परिशुद्ध प्रवृत्तिके बिना यथार्थ संस्कृति का सद्भाव नहीं हो सकता। बाह्य रूप से असत्कृत चमकदमक रहित दिखते हुए अहिंसादि सद्गुणों के सुसंस्कारों से अलंकृत आत्मा सुसंस्कृत कही जायगी। संस्कृति राजहंस तुल्य है जिसका कार्य विवेकपूर्ण सत्य असत्यका विश्लेषण है। हिंसा पर अवस्थित संस्कृतिनामक वृत्तिको गोमुख व्याघ्र या बकसमुदाय करना उचित होगा। शुचिता, समता, सद्भावना आदि के बिना संस्कृत की रूपरेखा एक प्रकारसे शवका शृंगार है। स्व अर्थात् आत्मत्वके विनाश द्वारा निर्मित होने वाली यदि संस्कृति नहीं विकृति रूप महा राक्षसी है। संस्कृति अंबिकाके रूपमें पूजी जाती है। विकृतिका भयंकर अरिहंत तथा सिद्ध परमात्मा बनानेका वास्तव सामर्थ्य रत्नत्रयरूप आत्म संस्कृतिमें है। संस्कृति का हृदय अहिंसा है। त्याग है। सत्य, ब्रह्मचर्य,

अकिंचनता आदि सत्कृतियाँ हैं। इसलिए वे समाजमें संस्कृति या विकास समान हैं। संस्कृति तथा हिंसामें प्रकाश तथा अन्धकार सदृश विरोध है।

अहिंसा द्वारा अनुप्राणित जीवन तथा प्रवृत्ति को ही संस्कृति कहना सात्विक होगा। रस्सी से कारकी गायको अगली गाय चरनेसे नहीं रोका जा सकता किन्तु उसी गायसे मधुर क्षीरका लाभ नहीं होगा, इसी प्रकार पाप प्रवृत्तियों द्वारा आंशिक विकृतिको संस्कृति कहनेसे नहीं रोका जा सकता, किन्तु उससे आनन्द, अभ्युदय तथा शान्तिका सुफल नहीं प्राप्त होगा। ऐसी स्थितिमें अहिंसाको ही संस्कृति की जननी मानना होगा।

अहिंसा के विषय में एक और बात ज्ञातव्य है। उपनिषद् की अमृतत्व सम्बन्धी बातें बड़ी मधुर लगती हैं। तपोवन की ओर जाते समय याज्ञवल्क्य से उनकी मैत्रेयी कहती है 'नाथ! आपके द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति, वैभवको लेकर मैं क्या करूंगी, जिससे मुझे अमृतत्व की प्राप्ति न होगी?'' किमहं तेन कुर्याम् येनाहं नामृता स्याम्।' यह गंभीर और विचार पूर्ण भाव मैत्रेयी के हैं। कारण सब वैभवका पर्यवसान मृत्युमें हो जाता है। लोकान्तर की ओर प्रस्थान करते हुए प्राणीके द्वारा संगृहीत समस्त सामग्री यहां ही पड़ी रहती है और इसे अकेला ही स्थानान्तर को प्रस्थान करना है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस अमृत जीवनकी उपलब्धिका कौनसा उपाय है जो वैज्ञानिक हृदय को भी स्वागत योग्य जंचे और सात्विक अंतःकरणको भी प्रतिकूल न लगे? विविधतामें एकत्व का दर्शन करना एक उपाय बताया जाता है, किन्तु उसके समक्ष तार्किक कहता है कि जगत् में जब एकत्व और विविधता का सद्भाव अनुभवगत है, तब उसका परित्याग करना सत्यसे विमुखता धारण करना है। असत्य पथके आश्रयसे अमृतत्व कथमपि उपलब्ध न होगा।

इस प्रसंग में अहिंसा तत्वज्ञान द्वारा हमें सन्तोषपूर्ण समाधान मिलता है। बीजगणितकी पद्धति द्वारा यह कठिन समस्या सहजमें

करता है, वह भी आनंदित रहता है। उभयत्र आनन्द की वर्षा इसके द्वारा होती है। दुःख संतप्त जीवोंके कष्टका दूर ने वाले महाभाग को जो सात्विक सुख मिलता है वह हिंसा तथा पापाचार द्वारा महान साम्राज्य तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले तामसीवृत्ति युक्त को स्वप्नमें भी दुर्लभ है।

आदर्श अभ्युदय की उपलब्धि भी भगवती अहिंसा की मंगलमयी देन है। हिंसक व्यक्ति अथवा शासक मण्डल घातक तथा ध्वंसकारी परमाणुओंका परित्याग किया करते हैं। घातक वायु जैसे ध्वंसक कार्य सर्वत्र किया करती है उसी प्रकार घातक भाववाले व्यक्तियोंके द्वारा छोड़े गए ध्वंस शक्ति संपन्न परमाणुओं से सर्वांगीण उदय नहीं होता। मांसभक्षियों के शासनोंमें धनवैभवको देख किसी के मन में पूर्वोक्त कथनके विषयमें संदेह उत्पन्न हो सकता है किन्तु वह संदेह निर्मूल है। पूर्व पुण्यके फलसे सुखभोगने वाले हिंसकोंका पुण्यका भंडार समाप्त होते ही जीव नियमतः दुःख पाता है। जिस वैभव (?) का अंतिम परिणाम अणु और हाइड्रोजन बमों के रूपमें दिखे उसके प्रति आस्था सर्वथा अनुचित है। शारीरिक संपत्ति, वैभव तथा आंतरिक सौख्यका भंडार अहिंसाका आश्रय लेने वालोंको प्राप्त होता है।

अहिंसक व्यक्तिके पास अपूर्व आत्म सामर्थ्य तथा महान् तेज पाया जाता है, जिसके आगे सबका मस्तक झुक जाता है। देवेन्द्र राजेन्द्र आदि उन मुनीन्द्रों के चरणों की सतत समाराधना करते हैं जिनके अंतःकरणमें श्रेष्ठ अहिंसाका निवास रहता है। ऐसे अहिंसक जिस भूमिमें रहते हैं, वह तीर्थ बनता है, जिस पथसे उनका विहार होता है, वहां ही समृद्धिका निवास होता है। उनका नाम स्मरण भी जन्म जन्मान्तर की पापराशिका क्षय करता है। वे ही लोकोत्तम हैं वे ही मंगलमय हैं और वे ही सबके लिए शरणरूप हैं। आनंद, अभय, अभ्युदय तथा अमृतत्व की प्राप्ति करानेवाली भगवती अहिंसा की कौन मुमुक्षु समाराधना न करेगा?

शांति प्रकाशन द्वारा प्रकाशित अन्य पुस्तकें

१) चारित्र चक्रवर्ती— श्री सुमेरचन्द्र दिवाकर B A LL. B
(आचार्य शान्तिसागर महाराज का जीवनी)
मूल्य १०)

२) मधुवन—प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर M A. B. C m.LL B.
मूल्य १)

३) विश्वतीर्थश्रमणबेलगोला— श्री सुमेरचन्द्र जी दिवाकर B A LL B
मूल्य [illegible]